# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ८ किरण २

# THE JAINA ANTIQUARY

Vol VIII No II

*Edited by*

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH BIHAR INDIA

DECEMBER 1942

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम



१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप में केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए, एल एल बी

प्रोफेसर ए एन उपाध्ये, एम ए, डी लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए एस

पण्डित के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

## जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

अगहन    किरण २


सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल-एल बी

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम ए, डी लिट्

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण



जैन सिद्धान्त-भवन, आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)    विदेश में ३॥)    एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९५२

# विषय-सूची



---



श्रीजिनाय नमः

# जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

| भाग ९ | दिसम्बर, १९४२। अगहन, वीर नि० सं० २४६९ | किरण २ |
|---|---|---|

## मन्दिरों एवं मूर्त्तियों की उत्पत्ति

[ ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ]

डा० पी० के० आचार्य का मत है कि 'भारतवर्ष या अन्य किसी भी देश में मूर्त्ति पूजा एवं मन्दिरों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई थी। 'देवायतन' शब्द पूजा-स्थल में मूर्त्ति की आवश्यकता सूचित नहीं करता। पूर्व-वैदिक काल के मूर्त्तिपूजकों को प्राकृतिक दृश्यों एवं वस्तुओं में ही परमेश्वर की सत्ता मिली थी। जनता बाद में परमेश्वर की कल्पना सर्वशक्तिशाली या सर्वव्यापी की तरह सहस्रलोचन या सहस्रपाद के रूप में करने लगी।' साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि 'यह भी सोच बैठना ठीक न होगा कि जब तक मूर्त्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी लोग पूजा नहीं करते थे।'*

मन्दिरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदासजी का मत है कि "सम्भवतः 'चैत्य' शब्द चिता से ही उत्पन्न हुआ है। महापुरुषों की चिताओं पर उनकी यादगार में जो वृक्ष लगाये जाते थे, जो पाषाणखण्ड रक्खे जाते थे मृत शरीर के अवशेष रखकर उनपर जो चबूतरे बनाये जाते थे, मढ़ियाँ बनाई जाती थीं उन सबको 'चैत्य' कहते थे। धीरे-धीरे मृत महापुरुषों की मूर्त्तियाँ बनाई जाने लगीं और वे भी 'चैत्य' कहलाईं और फिर उनकी रक्षा के लिये मन्दिर बनाये गये, जो 'चैत्यालय' कहलाने लगे।"†

परन्तु डा० पी० के० आचार्य का कहना है कि चैत्य या कब्र से मन्दिरों का कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मन्दिरों की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि "कल्पसूत्र के कुछ अंश को 'शुल्बसूत्र

*—'प्राचीन भारत' वर्ष १, सं० ८।

†—'पर्युषण पर्वनां व्याख्यानो' पृ० ३६।

कहते हैं, जिसमें वेदी वनाने की रीति और उनकी लम्बाई आदि दी हुई है। इनमें 'अग्नि' या ईंटों से बनी हुई बड़ी-बड़ी वेदियों के बनाने की रीति का वर्णन है। ये वेदी सोमयज्ञ की थीं जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौर पर हुआ था। सम्भवतः यहीं से मन्दिर-निर्माण का सूत्रपात होता है।"* रायबहादुर, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा कहते हैं कि "मूर्त्तिपूजा कब से प्रचलित हुई, यह नहीं कहा जा सकता। सबसे प्रथम ई० पू० २०० के नगरी के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की मूर्त्तिपूजा के लिए मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। यह मूर्त्तिपूजा का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रथा इससे बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी।" ['मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'] बल्कि इतिहासमहोदधि स्व० काशीप्रसाद जायसवाल के कथनानुसार आज तक की उपलब्ध देवमूर्त्तियों मे सबसे प्राचीन मूर्त्तियाँ जैनियों की हैं।†

किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि जैन मूर्त्तियाँ मौर्यकाल अर्थात् ई० पू० तीसरी शताब्दी तक की उपलब्ध होने पर भी प्रतिष्ठा-विषयक साहित्य ई० सन् ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मिलता। पता नहीं लगता कि इसके पहले मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा किस विधि और किस ढंग से होती थी।

श्रीयुत स्व० पं० उदयलालजी काशलीवाल ने 'जैनहितैषी' भाग १२, अंक १ में प्रकाशित अपने एक लेख मे इस सम्बन्ध मे यों लिखा था—"हमारा विश्वास इस बात को इन्कार नहीं करता कि अप्रतिष्ठित प्रतिमाएँ भी शान्ति प्राप्त करने की साधिका हैं। हमे प्राप्त करना है वीतरागता—शान्ति और यह जैसी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के ध्यानादि से हो सकती है वैसी ही अप्रतिष्ठित प्रतिमाओ से भी। इस सम्बन्ध मे उनके द्वारा उपस्थित किये गये हेतुओं में प्रधान हेतु ये हैं :

"साहित्य की दृष्टि से जब हम विचार करते है तो हमे यह निःस्संकोच कह देना पड़ेगा कि इस प्रतिष्ठा के सम्बन्ध का इस समय जितना साहित्य उपलब्ध है, वह सब इतना पुराना नही जिससे हम विश्वास कर सकें कि प्रतिष्ठाविधि बहुत पुरानी है। इस समय आशाधर, नेमिचन्द्र, अकलङ्क (दूसरे), इन्द्रनन्दि, एकसन्धि आदि जितने विद्वानों और मुनियों के प्रतिष्ठापाठ मिलते हैं वे सब विक्रम की ग्यारहवी, बारहवी शताब्दि के बाद के हैं। हमे यह देखकर बड़ा विनोद होता है कि अब भी हमारे यहाँ विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दि के बने ग्रन्थ जब मिलते हैं तब प्रतिष्ठा सरीखे एक आवश्यक विषय के ग्रन्थ उस समय के बने क्यो प्राप्त नही ? इसका कोई कारण होना चाहिये।"

*—'प्राचीन भारत', वर्ष १, सं० ८।

†—'जैन एन्टीक्वेरी' भाग ३, अंक १।

"विक्रम की समकालीन या उसके सौ, दो-सौ वर्ष बाद की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ अब तक देखने में नहीं आई हैं।"

उदयलालजी के इस विचार पर 'जैनहितैषी' के सुयोग्य सम्पादक प० नाथूरामजी प्रेमी ने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया था—"इस लेख पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। इसके लिये बड़े परिश्रम की और छानबीन करने की जरूरत है। मथुरा की जैनप्रतिमायें सबसे अधिक पुरानी हैं। वे लगभग १८०० वर्ष पहले की हैं। उनपर जो लेख हैं, उनमें प्रायः यह लिखा हुआ है कि अमुक के उपदेश से अमुक ने प्रतिमा बनवाई या स्थापित कराई। यह किसी भी लेख से स्पष्ट नहीं होता कि उनकी प्रतिष्ठा करवाई गई। उपलब्ध प्रतिष्ठापाठ ग्यारहवीं शताब्दि के पहले के नहीं हैं। परन्तु इनका बारीकी से अध्ययन करने से मालूम हो सकता है कि ये किन ग्रन्थों के आधार से बने हैं और इनके पहले प्रतिष्ठायें किस विधि से होती थीं। इस विषय का निर्णय करनेवालों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के और वैदिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापाठों का भी तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करना चाहिए। आश्चर्य नहीं जो बौद्ध-सम्प्रदाय के भी प्रतिष्ठापाठ रहे हों और शायद अब भी मिलते हों। प्रतिष्ठापाठ अधिक पुराने नहीं मिलते हैं, केवल इसी कारण यह समझ लेना कि ग्यारहवीं शताब्दि के पहले प्रतिष्ठाविधि नहीं थी, या प्रतिष्ठायें नहीं होती थीं, निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। हाँ, यह सम्भव है कि इन प्रतिष्ठापाठों के पहले जो प्रतिष्ठायें होती होंगी, वे इतने आडम्बर से न होती होंगी और विधि भी इतनी जटिल न होगी।'

अस्तु अब पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय पर आकर्षित करता हूँ। प्रो० क० आचार्य का यह भी कहना है कि पूर्व में चिति या वेदी 'चतुरश्रश्येनचित', 'प्रौगचित', 'रथचक्रचित', 'द्रोणचित', परिचय्यचित, 'समुह्यचित' एवं 'कूर्मचित' आदि कई तरह की बनाई जाती थी और उनका सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तरीय संहिता (का० ४ ११)[1] में मिलता है। एवं उसीके आधार पर बौधायन और आपस्तम्ब में विविध चिति (वेदियों) के आकार का वर्णन दिया हुआ है। चितियों का आकार हिन्दू, जैन एवं बौद्ध मन्दिरों की वेदी की तरह था जो मस्जिद और गिरजा में भी पाये जाते हैं। यही नहीं उनमें हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध मन्दिरों के शिखर, गिरजा के उपरी भाग और मसजिदों के गुम्बजों की कल्पना की जा सकती है। धीरे धीरे मन्दिर ऊँचाई और आकृति में बढ़ते गये। वेदियों के सामने क्रमशः 'भोगमण्डप', 'नृत्यमण्डप' आदि अन्यान्य मण्डपों की कल्पना भी की जाने लगी।' ऊपर की पंक्तियों का यही सार है कि विविध चिति (वेदी)यों के ही क्रमशः भिन्न भिन्न आकार और प्रकार वाले मन्दिरों की

1 'प्राचीन भारत', वर्ष १, अं० ८।

उत्पत्ति हुई[1] और वे धीरे-धीरे अनेक मञ्जिल एवं गोपुरवाले विशाल तथा गगनचुम्बी बनाये जाने लगे। पीछे मन्दिर सजाये भी जाने लगे। इनमें पाच आंगन होते थे। भीतरी आंगन 'अन्तरमण्डल' कहलाता था। उसके बाहर क्रमशः 'अन्तरनिहार', 'मध्यमहारा' 'प्राकार' और महामर्यादा होते थे, जिनमें क्रमशः 'द्वारशोभा', 'द्वारशाला', द्वारप्रासाद', 'द्वारहर्म्य' और 'महागोपुर'[2] रहता था। छठवें और सातवें आंगन में मन्दिर की रक्षा के लिये सैनिक रहते थे।

हिन्दू शिल्पशास्त्र 'मानसार' में शान्तिक, पौष्टिक, जयद आदि मन्दिरों के कई नाम मिलते हैं। प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई आदि भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। मन्दिरों की छत, चपटी, बन्द या गोलाकार तीन प्रकार की होती हैं। सर्वप्रथम चपटी (गुफाओं के आकार पर) बाद बन्द और अन्त मे गोलाकार छतों की सृष्टि हुई। गोलाकार छत, शिखर, शिखा, शिखान्त और शिखामणि इस प्रकार चार भागों में विभक्त है। हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध मन्दिरों के शिखर की बनावट में कोई भेद नहीं मिलता है। हां, ऊँचाई में भेद अवश्य मिलता है। इमारत नागर (उत्तरी), वेसर (पूर्वी) और द्राविड यों तीन प्रकार की होती है[3]। इन सबों का विशद विवरण डा० पी० के० आचार्य की 'Indian Architecture According to Manasara-Shilpashastra.' नामक पुस्तक मे दिया गया है।

दक्षिण भारत के मन्दिर द्राविड एवं चालुक्य भेद से दो भागों मे विभक्त हैं। कुछ विद्वान् चालुक्य शैली का होयसल नाम रखना अधिक समुचित समझते हैं। द्राविड़ शैली के मन्दिरों मे प्राय. पांच भाग होते हैं—विमान, मुखमण्डप (मण्डप), गोपुर, हजार और द्वार-मण्डप। इसी प्रकार चालुक्य या होयसल शैली के मन्दिरों मे भी प्राय. पांच भाग होते हैं—विमान, नवरङ्ग, मुखमण्डप, द्वारमण्डप एवं सभामण्डप। फिर भी इनकी रचनाओं से वैविध्य अवश्य है[4]।

---

१ कोई कोई चित्त से भी 'चैत्य' की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु शब्दशास्त्र की दृष्टि से उनका यह मत सदोष है।

२ 'मयशास्त्रम्' मे गोपुर एवं प्राकार आदि के सम्बन्ध में 'गोपुरप्राकारादिनिर्णयम्' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय ही है। देखें—पी० एन० बोस की 'Principles of Indian Shilpashastra' इसी प्रकार 'काश्यपशिल्प' में भी इन सबों का विशद वर्णन मिलता है।

३—'नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।
कण्ठादारभ्य वृत्तं यद्वेसरमिति स्मृतम्॥
ग्रीवमारभ्य चाष्टाश्रं विमानं द्राविडाख्यकम्।
सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरंत्विदम्॥'
(—मानसार)

४ विशेष विवरण के लिये 'मैसूरु देशद वास्तु शिल्प' प्रथम भाग का प्रथम अध्याय देखें।

श्रवणबेल्गोल का चामुण्डरायबस्ति द्राविडशैली एवं मूडबिद्री तालुक के अगडि में वर्तमान मल्लिनाथबस्ति चालुक्य या होयसल शैली की जैनकला के निदर्शन हैं।[१]

ठक्कुर के 'वास्तुसार प्रकरण' में जैन प्रासाद[२] या मन्दिर के नाम और शिखर पचीस प्रकार के बताये गये हैं। इनका सविस्तर वर्णन 'प्रासादमण्डन, दीपार्णव' आदि शिल्प ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से मिलता है। उक्त 'वास्तुसार प्रकरण' में लिखा है कि शिखरों के मान से प्रासाद ९६३० प्रकार के बनते हैं। इसमें 'प्रासाद का स्वरूप', 'प्रासाद का अंग', 'प्रासाद का मान', प्रासाद के उदय का प्रमाण', शिखरों की ऊँचाई, 'शुकनाश का मान', 'कनक-पुरुष का मान' आदि कई प्रकरण दिये गये हैं[३]।

मन्दिरों के बारे में रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा यों कहते हैं —

'ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक के सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलम्बियों अर्थात् ब्राह्मणों के मन्दिर अब तक किसी न किसी दशा में विद्यमान हैं। देश-भेद के अनुसार इन मन्दिरों की शैली में भी अन्तर है। कृष्णा नदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मन्दिर आर्य शैली के हैं और उक्त नदी के दक्षिण के द्राविड शैली के। जैनों और ब्राह्मणों के मन्दिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि जैन मन्दिरों के स्तम्भों छतों आदि में बहुधा जैनों से सम्बन्ध रखनेवाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणों के मन्दिरों में उनके धर्म सम्बन्धी। बहुधा जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी छोटी देवकुलिकाएँ बनी रहती हैं जिनमें भिन्न भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणों के मुख्य मन्दिरों के साथ कहीं कहीं कोनों में चार और छोटे छोटे मन्दिर होते हैं। ऐसे मन्दिरों को पंचायतन मन्दिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मन्दिरों में विशेषकर गर्भगृह (निजमन्दिर) रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मण्डप। जैन मन्दिरों में कहीं कहीं दो मण्डप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैलियों के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके

१ उल्लेखनीय जैन मन्दिर एवं मूर्तियों की विशेष जानकारी के लिये 'वीरवाणी' के 'जैन संस्कृति अंक' में प्रकाशित 'जैन मन्दिर एवं मूर्तिकला' शीर्षक मेरा लेख पढ़ें।

२ भोजदेवप्रणीत 'समराङ्गणसूत्रधार' में भी प्रासाद वेदी आदि का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

३ एक स्थान में चैत्यालय का उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो सन्मुखे।
कुर्याच्चालिसुर्न त्रिशूलसहितं धर्मादिभिर्भूषितम्॥
तत्पार्श्वे सदनस्य हस्तयमलं पञ्चाङ्गुलैःसंयुतम्।
केतुस्वर्णपटोच्छ्रयश्च शिखरं कल्याण निर्मापितम्॥'

सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बडा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वही ध्वजदण्ड भी होता है।[1]

यहाँ पर एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'मयशास्त्र' 'काश्यपशिल्प' आदि प्राचीन हिन्दू शिल्पशास्त्र के ग्रंथों मे जैन एवं बौद्ध मन्दिरों तथा मूर्त्तियों का उल्लेख बहुत कम पाया जाता है। 'मानसार' आदि दो एक ग्रंथों मे जो उल्लेख मिलता है, वह भी बहुत ही अनुदारपूर्ण है। मानसार लिखते है कि जैन एवं बौद्ध मन्दिर नगर तथा ग्राम से बाहर बनने चाहिये।[2] परन्तु इतिहास मे कही भी इनकी इस बात की पुष्टि नही होती है। इसमे कोई शक नही है कि मानसार वैष्णव पक्षपाती थे। इसीलिये उन्हे स्पष्ट लिखना पड़ा कि जिस नगरी के बीच मे विष्णु-मन्दिर होता है, वह राजधानी कहलाती है।[3]

जैन मूर्त्तियों के सम्बन्ध मे दो-एक बात और कहनी है। सन् १९३७ मे पटने में प्राप्त मौर्यकालीन जैन मूर्त्तियों का उल्लेख ऊपर कर ही चुका हूँ। इस समय सिंधु की उपत्यका का पुरातत्त्व सर्वप्राचीन समझा जाता है और उससे विद्वज्जन जिनप्रतिमा का भी सम्बन्ध स्थापित करते है।[4] इससे यह स्पष्ट है कि आज से लगभग छः हजार वर्ष पहले भी जिन-मूर्त्तियाँ मौजूद थीं। बाद मथुरा और खण्डगिरि-उदयगिरि का पुरातत्त्व भी जिनमूर्त्ति के प्राचीन अस्तित्व का द्योतक है। ई० पहली शताब्दी में मथुरा मे वह प्राचीन स्तूप मौजूद था, जो उस समय 'देवनिर्मित' समझा जाता था और जिसे डा० बुल्हर तथा सर विन्सेन्ट स्मिथ ने भगवान पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईस्वी पूर्व आठवी शताब्दी का बताया था।[5] जैनस्तूप पर मूर्त्तियाँ बनी होती है, यह बात जैनशास्त्रो और मथुरा के स्तूपावशेषो से स्पष्ट है।

'सूत्रो मे अर्हंतो के स्तूपों की चर्चा है, जो सम्भवत. जैन अर्हंतो के, बौद्ध धर्म के पहले से हुआ करते थे। बौद्ध स्तूपों मे इनसे कोई अन्तर नहीं होता था।'

'जैसे मन्दिर का नमूना उसने ब्राह्मण सम्प्रदाय से लिया, वैसे ही बुद्ध की प्रतिमा के नमूने जैनों से ले लिए।'[6]

१—'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'—पृष्ठ १७५-७६।

२—'दुर्गां गणपतिं चैव, बौद्धं जैनं गतालयम्।
अन्येषा पषुखादीनां स्थापयेन्नगराद्बहि॥' (६, ४०५-६)

३—तत्रागते नगर्यन्तं यदि विष्णवालयं भवेत्।
राजधानीति तन्नाम विद्वद्भिर्वर्ण्यते सदा॥ (१०, ४७)

४—Survival of the Prehistoric Civilisation of the Indus Valley, pp 25-83 and Modern Review, August, 1932.

५—Jaina Stupa and other antiquities of Mathur P 13

६—'भारतीय मूर्ति-कला' पृष्ठ ४२ और ६५।

'उपलब्ध जैनमूर्त्तियों को हम तीन भागों में विभक्त करना उचित समझते हैं। (१) उत्तर भारतीय (२) दक्षिण भारतीय और (३) पूर्व भारतीय। जैन सम्राट् ऐल खारवेल के समय अथवा उनके भी पहले से जैनधर्म के केन्द्र इन्हीं तीन प्रान्तों में थे। मथुरा पटना, उज्जैन और काँचीपुर जैन धर्म के प्राचीन केन्द्र हैं। इन्हीं केन्द्रस्थानों के अधीन उनके आसपास श्रावकों का होना स्वाभाविक है और उनपर वहाँ के देश और लोगों का प्रभाव पड़ना प्राकृत सगत है। उत्तर भारतीय प्रतिमाओं में हम संयुक्तप्रान्त से गुजरात तक और उधर पञ्जाब तक की प्रतिमाओं को लेते हैं। ये प्रतिमाएँ प्राय एक समान देखने को मिलेंगी। एक समान से हमारा मतलब मुखाकृति, शरीरगठन आदि से है। वैसे स्वरूप में जिन प्रतिमा एक-सी ही मिलेगी। पञ्जाब में तक्षशिला आदि में प्राप्त जिन प्रतिमाओं पर गांधार शिल्प का प्रभाव पड़ा कहा जा सकता है। किन्तु उत्तर भारत की प्राचीन मूर्त्तियाँ मथुरा की बनी हुई कही जा सकती हैं और ये वर्तमान प्रतिमाओं से शरीर आकृति आदि में विलक्षण हैं। दक्षिण भारत की जिन मूर्त्तियाँ भी उत्तर भारत की मूर्त्तियों से शिल्प नैपुण्य में भिन्नता रखती हैं। उनपर द्राविड लोगों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और ये उन्हीं की शरीर आकृति को प्रकट करती हैं। इसी तरह पूर्व भारत अर्थात् बंगाल, बिहार और उड़ीसा की जिन मूर्त्तियाँ वहाँ के देश, मनुष्य और शिल्प का प्रभाव प्रकट करती हैं। इन देशों की जिन मूर्त्तियों पर एक दृष्टि डालने से यह मूर्त्ति गढ़ने का भेद स्पष्ट हो जाता है।'*

वसुनन्दी, एकसन्धि, आशाधर आदि के प्रतिष्ठाग्रन्थ एवं निर्वेकविलासादि अन्यान्य रचनाओं में भी जैन मन्दिर तथा मूर्त्ति सम्बन्धी कई ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। अस्तु अन्त में मैं इतना और खुलासा कर देना चाहता हूँ कि पौरात्य एवं पाश्चात्य विद्वान् मूर्त्तिपूजन का आविर्भाव किस काल में हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से अभी तक कुछ भी नहीं कह सके हैं। हाँ, पटना की बस्ती अगम कुआँ से सन् १८१२ में उपलब्ध शैशुनाक की प्रतिमायें सर्वप्राचीन मानी गई हैं।† इस सम्बन्ध में अधिक छानबीन की जरूरत है। अन्वेषक विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित करने के लिये ही उपलब्ध सामग्रियों को मैंने विद्वानों के सामने रख दिया है। आशा है कि अधिकारी विद्वान् इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने का कष्ट उठायेंगे।

---

*—'जैन सिद्धान्त भास्कर' भाग २ किरण १, पृष्ठ १४—१५।

†—'भारतीय इतिहास की रूप रेखा' जिल्द १, पृ० ४०१।

# जैनधर्म का महत्त्व

[ ले० श्रीयुत प्रो० देवराज, एम० ए०, डी० फिल० ]

जैनधर्म की महत्ता ठीक-ठीक आँकने के लिए हमे उस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से परिचित होना होगा जिसमे उसका उदय हुआ था। स्वयम् जैन लोग सम्भवतः हमारी इस चेष्टा को अनुचित समझेंगे, क्योंकि उनके विश्वासानुसार उनका मत या धर्म अत्यन्त प्राचीन है—उनके आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव मत्रकर्ता वैदिक ऋषियों के समकालीन कहे जाते हैं। किन्तु जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों के इतने प्राचीन होने का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है।❀ वास्तव मे किसी सिद्धान्त या सम्प्रदाय का मूल्य उसकी प्राचीनता पर निर्भर नहीं है। सिद्धान्त या मतविशेष का मूल्य निर्धारित करने के दो माप-दण्ड हैं, एक ऐतिहासिक और दूसरा तर्क-सम्बन्धी अथवा अनुभवात्मक ; पहले मापदण्ड मे हम यह देखते हैं कि कोई मत या सिद्धान्त अपने उत्पत्ति काल मे प्रगतिशील शक्ति के रूप मे अवतीर्ण हुआ था अथवा प्रगति विरोधी रूप में ; दूसरे मापदण्ड से हम इस बात का निर्णय करते हैं कि मानवजाति के सार्वकालिक अनुभव और तर्क की कसौटी पर उसका मूल्य क्या है। प्रस्तुत लेख मे हम जैन-धर्म के सिद्धान्तों का मूल्यांकन पहले दृष्टिकोण से करेंगे।

जलधारा की भाँति किसी जाति या देश की विचार-धारा की स्वच्छता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके कलेवर में समय-समय पर नवीन तत्त्वो का समावेश होता रहे। जिस प्रकार बँधे हुए जलाशय का पानी दुर्गन्ध देने लगता है, उसी प्रकार बँधा हुआ विचार-प्रवाह जातीय मस्तिष्क के लिए अस्वास्थ्यकर हो उठता है। मनुष्य का अनुभव बढ़ता रहता है; इसलिए उसकी व्याख्या करनेवाले सिद्धान्तों मे भी परिवर्तन अनिवार्य है। यही कारण है कि डार्विन के विकासवाद के पहले प्रतिपादित किए गए सृष्टि आदि से सम्बद्ध सिद्धान्त आधुनिक विद्वानों को सहसा ग्राह्य नही जान पड़ते। वैदिक काल के आर्यों का धर्म सरल भक्तिमय था। वे मुख्यत बाह्यदर्शी थे ; विभिन्न प्राकृतिक घटनाओं के पीछे उन्हें अधिष्ठाता देवताओं की शक्तियाँ दिखाई देती थी, जिन्हे वे पूज्य और प्रशंसनीय समझते थे। ऋग्वेद की ऋचाओं मे आर्यों की इस विश्वास-भावना की अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। किन्तु धीरे-धीरे वैदिक धर्म की यह सरलता और भाव-प्रवणता नष्ट हो गई। पुरोहितों ने, जिनकी अब एक अलग जाति बन गई थी, अपने स्वार्थसाधन के लिए विविध यज्ञों और दक्षिणाओं की सृष्टि की। जटिल यज्ञ-विधान प्रतिपादित किए गए, जिनके अनुष्ठान के लिए ब्राह्मण

❀ इस विषय मे प्रमाण अपेक्षणीय है। —सं०

पुरोहितों की सहायता लेना अनिवार्य था। आर्य लोग अब तक भक्ति-भावना में विह्वल होकर देवताओं की स्तुतियाँ गाते थे, अब भक्ति का स्थान अनुष्ठानों ने ले लिया। पुरोहितों ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि वास्तविक फल देनेवाले यज्ञानुष्ठान हैं, न कि देवगण विधिपूर्वक अनुष्ठानों को पूरा करने से यजमान अभीष्ट फल पा सकता है। इस प्रकार अनुष्ठानों को गौरव देने का एक परिणाम तो यह हुआ कि देवताओं की महत्ता कम हो गई, और दूसरा यह कि लोग अनुष्ठानों की जटिल विधियों को पूरा करने में ही मानव धर्म और मानव-कर्तव्यों की इतिश्री समझने लगे।

ऐसी अवस्था में वैदिक धर्म का विरोध होना अनिवार्य था। विरोध का मुख्य कारण ब्राह्मण-युग के कर्मकाण्ड की बहिर्गतता थी। यह विरोध या प्रतिक्रिया दार्शनिक और नैतिक दोनों दिशाओं में, प्रसारित हुई। ऐसा मालूम पड़ता है कि यज्ञों की प्रधानता ने वैदिक देवताओं की महत्ता को सदैव के लिए क्षत कर दिया। उपनिषदों में हम ब्राह्मण युग के विरुद्ध दार्शनिक (Metaphysical) प्रतिक्रिया पाते हैं। उपनिषदों के विचारक हमारा ध्यान अनेक देवताओं से हटाकर एक आत्मा की ओर ले जाते हैं। नैतिक क्षेत्र में उपनिषद् के ऋषि हमें कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठाते हुए दिखाई देते हैं।

किन्तु उपनिषदों द्वारा किया गया ब्राह्मण युग का विरोध घरेलू सा था, वह सम्पूर्ण और सार्वभौम नहीं था। उपनिषदों में कर्मकाण्ड की निन्दा सिर्फ उनके दृष्टिकोण से की गई है जो मोक्ष चाहते हैं। तत्त्व-दर्शन (Ontology) में भी उपनिषदों ने खुले शब्दों में बहुदेव-वाद का विरोध नहीं किया। आधुनिक राजनीति की भाषा में कहें, तो उपनिषदों का स्वर सुधारवादी था क्रान्तिवादी नहीं। किन्तु इस समय जनता कर्मकाण्ड की यान्त्रिकता एवं कट्टरता तथा ऊँच-नीच के भेद भाव से इतनी खिन्न हो गई थी कि वह नैतिक वातावरण में आमूल परिवर्तन चाहती थी। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन भारत में ऐसे अनेक विचारक और प्रचारक उठ खड़े हुए, जो वैदिक दार्शनिक और नैतिक, विचार परम्परा के प्रतिकूल थे।

इनमें से अधिकांश विचारकों का दृष्टिकोण ध्वंस मूलक था, वे किसी न किसी तरह प्राचीन पक्षपातों को नष्ट करना चाहते थे। पुराण कश्यप, अजितकेश कम्बली पकुद कात्यायन, मक्खली गोसाल आदि इसी कोटि के विचारक थे। किन्तु कुछ क्रान्तिकारी विचारकों का दृष्टिकोण भावात्मक अथवा सर्जनात्मक (Constructive) भी था। वे लोग ब्राह्मण युग को हटाकर एक नवीन युग की स्थापना करना चाहते थे। उनका उद्देश्य समाज के नैतिक आधारों का नवनिर्माण करना था उन्हें नष्ट करना नहीं। जैनधर्म के प्रचारक भगवान् महावीर और बौद्धधर्म के स्थापक भगवान् बुद्ध इसी प्रकार के विचारक थे।

जैनधर्म के उत्पत्तिकाल के विषय में भले ही मतभेद हो, पर यह निर्विवाद है कि उसका उदय बौद्धधर्म से पहले हुआ। भारत के दार्शनिक इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। जैन सिद्धान्तों का महत्त्व-निर्णय करते समय इस कालक्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है। जहाँ तक हमें मालूम है, जैनधर्म पहला सम्प्रदाय था, जिसने वैदिक कर्मकाण्ड का निश्चित स्वर में विरोध किया और उसके बदले मौलिक नैतिक सिद्धान्तों को रखने की चेष्टा की। जैनधर्म के कोमलहृदय प्रवर्त्तकों को वैदिक कर्मकाण्ड की हिंसापरता खली और उन्होंने विश्व के नैतिक इतिहास में पहली बार 'अहिंसा परमो धर्म.' का उपदेश दिया।

जैनधर्म की नैतिक शिक्षा का एक दूसरा पहलू भी था। उसने अगणित देवी-देवताओं का अवलम्बन छोड़कर आत्मनिर्भरता की शिक्षा दी। आत्मकल्याण के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन ही नहीं, सम्यक्चारित्र भी आवश्यक हैं। ज्ञान के समान ही शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए मनुष्य को देवी-देवताओं अथवा अन्य रहस्यमयी सत्ताओं की आवश्यकता नहीं है। गीता कहती है,—'उद्धरेदात्मनात्मानम्', अर्थात् मनुष्य स्वयम् अपना उद्धार करे; जैनधर्म की भी यही शिक्षा है। भेद यही है कि गीता की भाँति जैनधर्म, कम से कम अपने मूलरूप में, अनेक देवी-देवताओं और ईश्वर में विश्वास नहीं सिखाता, जिसके फल-स्वरूप उसकी आत्मावलम्बन की शिक्षा को दार्शनिक आधार मिल जाता है।

कर्मक्षेत्र से भी पहले यह शिक्षा ज्ञान-क्षेत्र में शुरू हुई थी। सम्यग्ज्ञान के लिए मनुष्य को श्रुति पर निर्भर नहीं रहना होगा, उसे स्वयं चिन्तन करना पड़ेगा। भारत के मस्तिष्क को ग्रन्थ-विशेष के बन्धन से छुड़ाने की यह चेष्टा जैनधर्म तथा अन्य 'प्रगतिगामी' विचारकों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था। इतने प्राचीनकाल से ही यदि भारत में इस प्रकार श्रुति का विरोध न होता, तो मध्यकालीन योरुप के समान यहाँ के दार्शनिक भी स्वतंत्र विचारक न बनते और श्रुति-सम्मत सिद्धान्तों के मण्डनमात्र में अपनी तर्कशक्ति को थका डालते। यह जैनधर्म तथा अन्य श्रुति-विरोधी सम्प्रदायों का ही प्रभाव है कि भारतवर्ष में एक नहीं अनेक 'आस्तिक' (श्रुति-सम्मत) दर्शनों का उदय हुआ।

तत्त्व-दर्शन (Ontology) के क्षेत्र में जैनधर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनीश्वर-वाद था। बाद में बौद्धधर्म ने भी अनीश्वरवाद का प्रचार किया, किन्तु उसका अनीश्वरवाद नैरात्म्यवाद का अंश था। यदि हम जैनधर्म की प्राचीनता को ध्यान में रक्खे, तो हमें इस सिद्धान्त के महत्त्व को समझने में कठिनाई नहीं होगी। प्रायः सभी प्राचीन धर्म सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास सिखाते हैं। प्राकृतिक घटनाओं के अप्राकृतिक कारण में विश्वास प्रारंभिक धार्मिक मस्तिष्क का प्रधान लक्षण है। यह आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीन-काल में जैनधर्म अपनेको इस पक्षपात से मुक्त कर सका। नवीन विज्ञान के अनुसार

प्रकृति-जगत् एक स्वतन्त्र समष्टि (System) है, जिसकी प्रत्येक घटना अटूट नियमों के अनुसार होती है। इन नियमों में कोई बाहरी (जड़ेतर) शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। ईश्वर को स्रष्टा मानने का अर्थ प्रकृति की अखण्डता और स्वतन्त्रता (Autonomy) में अविश्वास करना है। प्रकृति-सबंधी इस रहस्य को जैन धर्म ने मानव-चिन्तन की इतनी आरंभिक अवस्था में समझ लिया यह श्लाघ्य है।

भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य है कि जैनधर्म द्वारा जड़ जगत् की इस प्रकार निरपेक्षता घोषित किये जाने पर भी यहाँ वैज्ञानिक अन्वेषण का उदय नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यही मालूम पड़ता है कि यहाँ के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क मोक्ष की खोज में लगे रहे, उनमें प्राकृतिक रहस्यों का पता लगाकर जड़ शक्तियों पर शासन करने की आकाङ्क्षा न थी। हिन्दू दर्शन की भाँति जैनधर्म ने भी मोक्ष में विश्वास प्रतिपादित किया, और चूंकि मोक्ष का अर्थ शरीर अथवा जड़ जगत् के सम्पर्क से छूटना था, इसलिए इन विचारकों का जड़ सम्बन्धी अन्वेषणों में जी लगना कठिन था। यही कारण है कि जहाँ जैनधर्म के श्रुति विरोध ने भारत की तर्क प्रगति को प्रभावित किया, वहाँ उसके अनीश्वरवाद ने भारतीय दर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला। इसके विपरीत जैनदर्शन के घोर द्वैतवाद ने आत्मा और अनात्मा के बीच की खाई को अधिक चौड़े और गहरे रूप में प्रदर्शित करके भारतीय मस्तिष्क को प्रकृति से तटस्थ रखने में सहायता दी।

# उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख

[ ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ]

( शेषांश )

इस लेख से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट सम्राट् मूलतः रट्टवंशोद्भव थे; क्योंकि सम्राट् कृष्ण को रट्टवंशी और उन्हींके वंश मे रट्टराज कार्तवीर्य को हुआ लिखा है। कार्तवीर्य स्वयं जैनधर्मानुयायी थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। लक्ष्मीदेव उन्हींके पुत्र थे। उपरान्त वह राजा हुए थे। चन्द्रिकादेवी उनकी पट्टरानी बड़ी धर्मात्मा थीं। एक दफा उनको घटसर्प नामक असाध्य रोग हो गया। वैद्यों ने उनके अच्छा होने की आशा छोड़ दी। वह एकान्तवास में जा रमीं और जिनेन्द्र महावीर का मंदिर बनवाकर उसमें जिनपूजा एवं व्रतोपवास करने में निरत हुईं। उनकी भक्ति सफल हुई— वह अच्छी हो गईं। यह वर्णन अगले लेख नं० २३ में अंकित है। उपर्युक्त लेख में मुरियर महाप्रभु अम्मगौड के पार्श्वजिनालय बनवाने का उल्लेख है। 'मुरियर महाप्रभु' विरुद संभवतः मोरिय क्षत्रियत्व का द्योतक है। तामिल साहित्य में 'मुरियर' शब्द 'मोरिय' (मौर्य ?) लोगोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। 'प्रभु' या 'महाप्रभु' शब्द महाराष्ट्रीय कायस्थों के लिये प्रयुक्त होता है। जो हो, यह स्पष्ट है कि अम्मगौड एक सरदार था और जिनेन्द्र का भक्त था। उसकी पत्नी जिनभक्ति में किसीसे कम नहीं थी। नं० २३ (४४"×२५") शिलालेख का हिन्दी-भाव निम्न प्रकार है —

१—३। रट्टों के प्रसिद्ध और प्रतापी वंशरूपी समुद्र से जन्मे अनेक राजा ऐसे शोभते थे, मानो पृथ्वी को अलंकृत करने के लिये मोती अथवा रत्न हैं। उनमें सर्वश्रेष्ठ नरेश सेन अतुल भुजविक्रम के धारी हुए।१।

४—५। उन पृथ्वीपति और लखुमादेवी के पुत्र भुवनविख्यात और अतुल पराक्रमी कार्तवीर्य हुए।२।

'—६। उन श्रेष्ठतम नरेश और कमलनयनी पद्मावती के पुत्र वीर-समुदार और प्रसिद्ध लक्ष्मीदेव हुए।३।

६—८। उनकी प्रिय रानी चन्द्रिकादेवी थी, जो निर्मल चारित्र की धारक और पृथ्वी पर प्रसिद्ध थीं। वह एक महान् दातार और लोक के हृदय को आनन्द देनेवाली थीं, क्योंकि घटसर्प (रोग) पर विजय पाने पर उनका जयघोष शब्द हुआ था।४।

८—९। उनके प्यारे पुत्र कार्तवीर्य और मल्लिकार्जुन थे। कार्तवीर्य की विभूति

इन्द्रतुल्य थी। वह समामों में प्रसिद्धि पा चुके थे और उनके चरणों की सेवा राजाओं के मलकों ने की थी ।५।

९—१६। स्वस्ति ! जब कि प्रतापी महामंडलेश्वर कार्तवीर्य अपनी राजधानी वेणुग्राम में शासन करते हुए सुरसंकथा में कालक्षेप कर रहे थे कार्तवीर्य महामंडलेश्वर, समधिगत पंच-महाशब्द-गत, लट्टनूर पुरवराधीश्वर, त्रिवलि-तूर्य-निर्घोषण, रट्टकुल भूषण, सिंधूरलाञ्छन, मकलिङ्कविद्वज्जन आमिनन्धन, साहित्य विद्या विरंचि, वीरकथा श्रवण जात रोमांच, स्वर्णगरुडध्वजी, सहजमकरध्वज, संग्राम तूलि-कृत गदादंड, कम्न प्रचंड, सिंधुरारिपधुर-धय-धनतन सूत्रधारि, रिपुसिर खंडन करान करवाल मंडलिक गंड सन्न प्रहारि विमत्र सक्रदन साहस ओत्तुङ्ग और यप्पनसिंग थे। उनके यह और अन्य विरुद थे। उनके चरणकमलोपसजी

१६—१८। याचरस फङ्कणनूरु के स्वतंत्र स्वामी थे। उनकी पत्नी परसियव्वे कमलनदनी और मोहनकेशावलियुक्त थीं। उनके पुत्र थे

१८—२०। श्रीपति हेम्मण्य्य, लोकप्रिय चित्तण्य्य, राजदरबारों में प्रसिद्ध प्रतापी कालिमय्य और दंडनायक चावुंडराय। कालिमय्य विद्यारसिक और रट्टराज्योद्धरण परिणत थे ।६।

२१—२२। यह चारों राजनीति में निपुण विजय के विश्रामस्थल, रट्टराज्य संरक्षण के लिए साक्षात् ब्रह्मा द्वारा स्थापित साफल्य के चार साधन थे ।७।

२२—२३। उनमें ज्येष्ठ हम्मराज नृपवर कार्तवीर्य का कृपापात्र था।

२४—२५। उसने अपने वंशगत प्राप्त दानपत्र को फिर लिखाया। उसका सार इस लेख में निम्नप्रकार गर्भित किया जाता है —

२५—२६। स्वस्ति ! जगतीतल में प्रसिद्ध एरेगनृप रट्टकुल के स्तंभ, लोकप्रसिद्ध और महती राज्य के आदिकर्त्ता थे ।१०।

२६—२८। जब वह कुंडी राजधानी से शासन कर रहे थे तब शक ५०० मन्मथ संवत्सर आषाढ़ कृष्ण १० सोमवार को।

२८-३२। प्रतापी महामंडलेश्वर एरेगदेवरस ने जलधारा द्वारा प्रचंड दंडनायक फङ्कणनूरु के स्वामी मादिराज को ४१०० कम्बभूमि दान की, जिसपर उनका पूरा स्वामित्व और आठ प्रकार का भोग अधिकार प्राप्त था।

३२-३३। नृप के सेनापति का जन्म पल्लडिगवंश में हुआ है। वह साहित्य ऋषि व ब्राह्मणवंश में हुए और अपने शौर्य से शत्रुओं को नष्ट किया ।११।

३३-३५। दंडनायक-कमल-सूर्य मादिराज दंडाधीश्वर ... ... मानो यमपुत्र ही थे ! ।१२।

३६-३७। ५५० कम्ब भूमि मूलस्थान के कलिदेव के आचार्य को और एक घर ... . .४५० कम्ब भूमि यापनीय सघ की मूल वसदि (मंदिर) को और एक दानशाला भी।

३८। ५५० करमुक्त कम्ब भूमि मूलसंघ-वसदि को और एक दानशाला भी।

३८-३९। दंडाधिप हेम्म ने मूलस्थानद कलिदेव का मंदिर और दोनों मूल वसदिओं (जिनमंदिरों) का जीर्णोद्धार कराया। उन्होने दोनों का धार्मिक क्रियाकाण्ड मिलाकर एक कर दिया ।१३।

३९-४१। मानवजीवन को सफल करनेवाले चारों पुरुषार्थों को पवित्रभूत अच्छे मंदिर उन्होंने वनवाये और ग्रामदेवता के शिरोभूषण भी तथा खूब जीर्णोद्धार कराया ।१४।

४१-४२। तालाव, कुएँ, जलागार, वाग-वगीचे आदि उन्होंने नगर के चहुंओर वनवाये। ऐसा उनका पुण्य है ।१५।

४२ ४५। प्रभु हेम्मय्य उस अद्भुत स्थान पर रहते थे प्रशंसनीय थे, कुलव्योम मे प्रचंडसूर्य थे, महान् पुण्यशाली थे, अनिन्द्यचरित्र थे ज्येष्ठ पुत्र थे, लोक-प्रवंध करने के लिये योग्य थे और श्रेष्ठ वाचस्पति थे ।१६।

४५-४६। वह अपने कुलव्योम के चमकते चन्द्र और अनेक विद्यासम्पन्न थे . ..१७।

४६-४७। ३०० कम्ब भूमि ब्रह्मेश्वर को . ।

४८। ४५० कम्ब भूमि शिल्पकार्य के लिए .. ।

४८। ४५० कम्ब भूमि कलश के लिए ..... . ।

४९। २५० भूमि वलादि के लिए ... ।

५०। २०० भूमि ब्रह्मदेव के लिए . ... ।

५०-५१। ४५० भूमि ग्राम कर्णिक (clerk) के लिए .. . ..... .. ।

५१-५२। ३०० भूमि दरवान के लिए . .. ।

५२-५३। ३०० कम्ब भूमि .... ब्रह्मपुरी . .. . १०० कम्ब भूमि विनायक के लिए .. ... ।

५४-५५। १०० कम्ब भूमि . . ... . .. ..... . ... ... ..... ।

५६। जो नृप इस दानपत्र का पालन करेंगे वह इह और परलोक में सुखी होंगे, पर जो इसको छीनेंगे वह अपने पूर्वजों सहित नरक मे पड़ेंगे। ८।

५७। जो स्वदत्त या परदत्त दान छीनेगा वह साठ हजार वर्षों तक कृमि हो दुखी होगा ।१९।

इस लेख से रट्टवश के नृप ण्सेन का पता चलता है। वह भी जिनेन्द्रभक्त थे। उनके दडनायक, मादिराज, एक प्रचड वीर थे। साथ ही वह धर्मरत्न और जिनधर्म प्रभावक भी थे। उनके पुत्र दडाधिप हम्म थे। उन्होंने वह मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था। खास बात यह है कि यद्यपि यापनीयसघ और मूलसघ के मंदिर अलग अलग थे, परन्तु उन्होंने दोनों का पूजा-व्यवस्थादि मिलाकर एक कर दी। इससे स्पष्ट है कि दोनों सघों की पूजाविधि आदि में विशेष अन्तर नहीं था।

प्राचीन इङ्गलेश्वर के कुएँ पर लेख न० ३६ अङ्कित है जिसका हिन्दी भाव यों है —

१-६। इङ्गलेश्वर के स्वामी शशिनाथ ने प्रसन्नता पूर्वक अद्वितीय तीर्थनाथ मल्लिनाथ जिननाथ का एक पाषाण मंदिर बनवाया, मानो वह देवेन्द्र का रत्नागार ही हो।

७ १०। (मंदिर बनने का समय है, परन्तु वह घिस गया है)

बडगावरित (कोल्हापुर) के शिलालेख न० ४० का हिन्दी रूप निम्नप्रकार है —

१-२। शान्तिनाथ को नमस्कार हो। अमोघ और महान् स्याद्वाद लाञ्छन-युक्त त्रिलोकीनाथ श्री जिननाथ का शासन जयवता प्रवर्ते।

२ ५। पचकल्याण(क) युक्त, स्याद्वादलाञ्छन सहित जो निश्चयज्ञान ज्ञापक है, ऐसे सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तीश्वर और पचम चक्रनाथपद प्राप्त गौतम(स्वामी) हमें इस धरातल पर शाश्वत अच्युतपद प्रदान करें।

५ ६। शिवकोटि-नृप प्रमुख, जिनका नाम धाता भट्टारक और जो सेनगण में प्रसिद्ध है, वह मध्याह्नकल्पभूरुह थे। (the mid day desire yielding tree)

७ ८। प्रसन्न शासनदेवी ज्वालिनी से उन्हें वरदान प्राप्त था। वह मुनियों के लिये (bridle bit) थे। वह वृषभमनान्वय और पुष्करगच्छ के थे।

८ ९। मैं लक्ष्मीसेन मुनियों की वदना करता हूँ जो दिल्ली, करवीर, काञ्ची और पेनुगोंडे के पीठ (स्थानों) में विराजित हैं।

९-१०। कुन्तलदेश में अनेक बाग, कुएँ, तालाब, नदियाँ और ईख के खेत हैं। उसमें सार्थक नाम वडगावि है।

११ १२। उस स्थान का स्वामी भारद्वाजगोत्री नेमि था, उनकी पत्नी पद्मावती थीं। दोनों से पचमवश वहाँ चमका था।

१२ १३। मये समस्त पचव्रतों के, पच　　मक्ति के, और गति एव कल्याण के योग्य होते 'पचम' (वश) अस्तित्व में आया।

१३ १४। उस वश में पुत्र हुये, जो नाना प्रकार का आहार ऋषिसघ को दान देते थे।

१५ १६। उनका पुत्र देवप था। उनकी पत्नी नेमा था। इनके पुत्र आदप महान् धर्मात्मा थे।

१६-१७। उनकी पत्नी अक्कमा थी, जिनके दो पुत्र—ज्येष्ठ लघुम और छोटे वुक्क हुए।

१७-१८। लघुम की पत्नी आदव्व एक प्रसिद्ध महिला, सर्वगुणसम्पन्न और सीता सती समान थी।

१८-१९। उनके चद्र-सूर्य की तरह प्राची दिक् से ज्येष्ठ पुत्र वलवान् और प्रसिद्ध आदप्प और लघुपुत्र लोकप्रसिद्ध अक्कप्प हुए।

२०। वुक्कसेट्टि की प्रिय पत्नी सानव्व थी। उनके पुत्र का प्रिय नाम सात था।

२१। तीनों अपनी पत्नियो सहित ऐसे चमकते थे, मानो एक हों। अपनी पत्नियों की सम्मति से उन्होंने एक चैत्यालय वनाया।

२२-२४। चैत्यालय मे एक परकोट, कलशध्वजयुक्त गोपुर, और मानस्तंभ भी था। पंडितो ने उसकी विम्व प्रतिष्ठा और महासंघपूजा की, यह सोचकर कि इस लोक व परलोक मे सुखकर होगी।

२४-२६। सं० १६९६ जय संवत्सर पुष्य कृष्ण १ को शान्ति जिनविम्व की स्थापना हुई।

२६-२७। जो मदिर व मूर्ति का जीर्णोद्धार करेगा वह महती पुण्य संचय करेगा और जो इनकी रक्षा करेगा वह अक्षय फल पायगा।

२७-२९। जो धर्मकार्य को, मंदिर व मूर्ति को नाशेगा वह स्त्रियों, वालकों, गउवों सूअरो और कोड़ियों का नाशक होगा। वह अपने सौ जन्मों मे कुत्ता होगा।

२९-३०। यह शान्तिजिन का शासन लेख यावद्चन्द्रदिवाकर इस पृथ्वी पर वर्द्धमान रहे। जिनशासन की वृद्धि हो।

३१-३२। धम-कर्म के पुण्यफल-द्वारा ही नर-देव गण और तीर्थङ्कर की पदवी मिलती है। अतः धर्म-कर्म करना चाहिए।

३३-३४। जो धर्म-कर्म करता है और जिनपूजा करता है, वह अभय है। उसकी सब विघ्न-वाधायें नश जाती हैं। उसे इच्छित फल प्राप्त होता है। लोग आकर्षित होते है। धर्मवृद्धि हो।

३५। शालिवाहन नृप शक १६५६ पौष्य कृष्ण १ वृहस्पति को।

इस लेख से दक्षिण भारत के पंचम जातीय जैनियों की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि पंचम जाति के लोगों को जब धर्मकर्म के योग्य आचार्यों ने पाया, तो उन्हे पंच अणुव्रतादि देकर जैनधर्म में दीक्षित कर लिया। इस लेख मे बिम्बप्रतिष्ठा का भी उल्लेख है।

इस प्रकार इन लेखों से तत्कालीन जैनस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। यदि अन्य स्थानों के जैन लेखों का संग्रह किया जाय, तो इसी प्रकार इतिहास का उद्योत हो!

# केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि

[ ले०—श्रीयुत प० नेमिचन्द्र जैन, न्याय ज्योतिष तीर्थ, ज्योतिष शास्त्री ]

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि फलित ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। अभी हाल में श्रीमान् श्रद्धेय प० के० भुजबली जी शास्त्री मूडबिद्री गये थे और वहाँ से इसकी नकल करवा कर लाये हैं। इसकी पृष्ठ संख्या २४ है, प्रत्येक पृष्ठ में ११ लाइनें हैं और प्रत्येक लाइन में प्राय ४३ अक्षर हैं। भाषा संस्कृत है कहा कहीं बीच में प्राकृत गाथाएँ भी दी गई हैं। इसका विषय प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नानुसार फल बतलाना है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता समन्तभद्राचार्य बताये गये हैं, परन्तु ग्रन्थ के भीतर ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है, जिससे ग्रन्थकार का निर्णय किया जा सके। इसमें अक्षरों के पाँच वर्ग निश्चित किये हैं —

अ ए क च ट त प य श, इति प्रथम ॥१॥
आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष, इति द्वितीय ॥२॥
इ ओ ग ज ड द ब ल स, इति तृतीय ॥३॥
ई औ घ झ ढ ध भ व ह इति चतुर्थ ॥४॥
उ ऊ ङ ञ ण न म, अं अः, इति पञ्चम ॥५॥

एतान्यक्षराणि कथकस्य वाक्यत प्रश्नाद्वा गृहीत्वा स्थापयित्वा सुष्ठु विचारयेत्।

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न के अनुसार अक्षरों को लेकर इसमें फल बताया गया है। अर्थात् उपर्युक्त पाँचों वर्गों के अक्षरों में से कोई भी अक्षर प्रश्नकर्त्ता से स्पर्श करवाके या इन्हीं अक्षरों में से कोई भी अक्षर की कल्पना करा के उसका फल बतलाया गया है। आगे इन्हीं अक्षरों के संयुक्त, असंयुक्त, अभिहत, अनभिहत, अभिघातित इन पाँच मिश्रित वर्गों को लेकर तथा आलिंगित, अभिधूमित, दग्ध—इन तीन क्रियाविशेषणों से प्रश्न का विचार किया गया है। स्ववर्ग संयोग में स्वकीय चिन्ता और परवर्ग संयोग में परकीय चिन्ता बताई गई है। अनभिहत का फल इस प्रकार बताया है —

"स्ववर्गे व्याधिपीडा परवर्गे शोकसंतापदुःखभयपीडाश्च निर्दिशेत्।"

अर्थ—स्ववर्ग के अनभिहत प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर होने पर व्याधि, पीडा आदि फल और परवर्ग के अनभिहत प्रश्नाक्षर होने पर शोक, संताप, दुःख, पीडा आदि फल होता है। इस प्रकार उपर्युक्त आठ प्रकारों से प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का विचार बहुत अच्छी तरह से किया है। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में नष्ट-जातक पत्र बनाने का विषय सब से महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय है। प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर पर से योनि, गण, सम्वत्, मास, पक्ष, तिथि, लग्न, नक्षत्र आदि का ज्ञान किया है। हिन्दू ज्योतिष के किसी भी ग्रन्थ में प्रश्नाक्षर पर से नष्ट जातक बनाने की विधि नहीं बताई गई है, बल्कि सब जगह प्रश्नलग्न पर से ही नष्ट जातक

बनाने की विधि दृष्टिगोचर होती है। प्रश्नाक्षर पर से नष्ट-जातक बनाने में बहुत कम परिश्रम करना पड़ता है। अतः जिनकी कुंडली नहीं है उनकी भी जन्म-पत्रिका बहुत सरलता से बन सकती है। योनि जानने का निम्नप्रकार निश्चय किया है :—

तत्र त्रिविधो योनिः। जीवधातुमूलमिति। अ, आ, इ, ए, ओ, अः, इत्येते जीवस्वराः षट्। क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श स हाः, इति पंचदश व्यञ्जनाक्षराणि च जीवाक्षराणि भवन्ति। उ, ऊ, अं इति त्रयः स्वराः, त थ द ध प फ ब भ व साः, इति त्रयोदशाक्षराणि धात्वक्षराणि भवन्ति। ई ऐ औ इति त्रय स्वराः; ङ ञ ण न म ल र षा, इत्येकादशाक्षराणि मूलानि भवन्ति। प्रश्ने जीवाक्षराणि धात्वक्षराणि मूलाक्षराणि च परस्परं शोधयित्वा तत्र योऽधिकः स एव योनिः। दग्धालिंगिताभिधूमितश्चेत्धातु। आलिंगिताभिधूमितदग्धाश्चेत् जीवः। तत्र जीव द्विपदः चतुष्पद अपदः संकुलेति चतुर्विधः। अ ए क च ट त प य शा द्विपदाः। आ ऐ ख छ ठ थ फ र षा चतुष्पदाः। इ ओ ग ज द ब ल सा अपदाः। ई औ घ झ ढ ध भ व हा पादसकुला. भवन्ति।

अर्थात्—योनि के मूल में तीन भेद है। जीव, धातु और मूल। अ आ इ ए ओ अः क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श ह ये २१ अक्षर जीवसंज्ञक; उ ऊ अ त थ द ध प फ ब भ व स ये १३ अक्षर धातुसंज्ञक और ई ऐ औ ङ ञ ण न म ल र प ये ११ अक्षर मूल संज्ञक हैं। जीव योनि के पुनः द्विपद, चतुष्पद अपद, पादसंकुला ये ४ भेद किये हैं। इनकी पहचान उत्तरोत्तर, अधरोत्तर, अधराधर आदि वर्ण संज्ञा से की गई है। द्विपद आदि योनियों के भी कई अवान्तर भेद किये है, जिनसे जातक के गण का ज्ञान हो जाता है। धातु और मूल योनि के भी कई अवान्तर भेद गिनाये हैं। इनके पहचानने की विधि भी बताई गई है। नष्ट-जातक के जन्ममास का ज्ञान निम्न प्रकार से किया है :—

अ, ए, क फाल्गुण ; च, ट चैत्र', त, प कार्त्तिक' ; य, श मार्गशिरः, आ ऐ ख छ ठ थ फ र पाः माघः, इ ओ ग ज ड दा वैशाखः, द ब ल साः ज्येष्ठ ; ई औ घ झ ढा आषाढः, ध भ व हाः श्रावणः; उ ऊ ङ ञ णा भाद्रपदः; न, म, अं, अ आश्विनयुज.।

अर्थात्—प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर में यदि अ ए क हो तो फाल्गुण; च ट हों तो चैत्र, य श हो तो मार्गशिर; त प हो तो कार्त्तिक; आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष हो तो माघ, इ ओ ग ज द हो तो वैशाख; द ब ल स हों तो श्रावण, उ ऊ ङ ञ ण हों तो भाद्रपद और न म अं अः हों तो आश्विन जन्म मास जानना चाहिये।

पक्ष जानने के लिये निम्न प्रकार बताया है :

अ ए क च ट त प य शाः शुक्लपक्षः, आ ऐ ख छ ठ थ फ र षा कृष्णपक्ष', इ ओ ग ज द ब ल साः शुक्ल पक्षः, चतुर्थवर्गोपि (ई औ घ झ ढ ध भ व हाः) कृष्णपक्षः, पञ्चवर्गोभयपक्षाभ्यां एकान्तरितभेदेन ज्ञातव्य ।

अर्थात्—प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर यदि अ ए क च ट त प य श हों तो शुक्ल पक्ष का जन्म, आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष हों तो कृष्ण पक्ष का जन्म, इ ओ ग ज द ब स हों तो शुक्ल पक्ष का जन्म, घ झ ढ ध भ व ह हों तो कृष्णपक्ष का जन्म जानना चाहिये।

नष्ट जातक पत्र की तिथि जानने की विधि निम्न प्रकार है —

अ इ, ए शुक्लपक्ष प्रतिपत्। क २, च ३ ठ ४, त ५, प ६, य ७, श ८, ग ९, ज १०, ड ११, द १२, उ १३ ल १४, स १५ इति शुक्लपक्ष। अ पञ्चम्यादि, अ, त्रयोदश्याम्।

अर्थात्—यदि प्रश्नकर्त्ता के अ इ ए अक्षर हों तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, क हो तो शुक्लपक्ष की द्वितीया, च हो तो शुक्लपक्ष की तृतीया, ठ हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्थी, त हो तो शुक्लपक्ष की पञ्चमी प हो तो शुक्लपक्ष की षष्ठी, य हो तो शुक्लपक्ष की सप्तमी, श हो तो शुक्लपक्ष की अष्टमी, ग हो तो शुक्लपक्ष की नवमी, ज हो तो शुक्लपक्ष की दशमी, ड हो तो शुक्लपक्ष की एकादशी द हो तो शुक्लपक्ष की द्वादशी, उ हो तो शुक्लपक्ष की त्रयोदशी, ल हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्दशी स हो तो पूर्णिमा, अ हो तो कृष्णपक्ष की पञ्चमी और अ हो तो कृष्णपक्ष की त्रयोदशी जन्म तिथि जाननी चाहिये।

"अष्टसु वर्गेषु राहुपर्यन्ता अष्टग्रहा, ङ ञ ण न मेषु केतुश्च।"

अर्थात्—यदि प्रश्नाक्षर क ख ग घ हो तो सूर्य, च छ ज झ हों तो चन्द्रमा, ट ठ ड ढ हों तो मंगल, त थ द ध हों तो बुध, प फ ब भ हों तो गुरु, य र ल व हों तो शुक्र, श ष स हों तो शनि, ह हो तो राहु और ङ ञ ण न म हों तो केतु जानना चाहिये।

"अकरादि द्वादशमात्रा स्पृष्टा मेषादिराशय।"

अर्थात्—यदि अ मात्रा प्रश्नाक्षर में हो तो मेष आ हो तो वृष, इ हो तो मिथुन, ई हो तो कर्क, उ हो तो सिंह ऊ हो तो कन्या, ए हो तो तुला ऐ हो तो वृश्चिक ओ हो तो धनु औ हो तो मकर, अं हो तो कुम्भ अः हो तो मीन लग्नराशि जाननी चाहिये। तत्पश्चात् गमनागमन लाभालाभ आदि विषयों का विवेचन प्रश्नाक्षरों पर से किया है। यह विषय भी ज्योतिषशास्त्र में नवीन और उपयोगी है। शुभाशुभ का विचार निम्न प्रकार से बताया है—

अभिधूमितमात्रे संयुक्ताक्षरे दीर्घायु। प्रश्ने अभिघातितायु शीघ्रमरणमादिशेत्। सकठ मात्रसंयुक्ताधराक्षरेषु रोगो भवति। अर्धस्वर संयुक्तोत्तराक्षरेषु दीर्घरोगो भवति। अधरोत्तरेषु धात्वक्षरेषु अभिमतस्वरसंयुक्तेषु स्त्रीभ्यो मृत्युर्भवति।

अर्थ—प्रश्नाक्षर अभिधूमित† संयुक्ताक्षर होने पर दीर्घायु होती है। प्रश्नाक्षर अभिघातित होने पर शीघ्र मरण होता है। सकठ संयुक्ताधराक्षरों के होने पर बड़ा रोग होता है। अर्धसंयुक्ताक्षरों के होने पर स्त्रियों से मृत्यु होती है। अधरोत्तर धातु अक्षरों के होने पर स्त्रियों से मृत्यु होती है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में कई नवीन और महत्त्वपूर्ण विषय दिये गये हैं, जो अन्यत्र शायद ही मिलेंगे। ग्रन्थ उपयोगी है। इसके प्रकाशित होने की आवश्यकता है। आशा है, कोई दानी सज्जन इसको प्रकाशित करा कर जैन-साहित्य का उपकार करेंगे।

† यह संज्ञाविशेष है, ग्रन्थकर्ता ने इसको स्वयं विस्तार से स्पष्ट किया है।

# पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'

[ ले०—श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे ]

अनु०—शान्तिलाल जैन, शास्त्री, बनारस

---

प्रस्तुत पुस्तक त्रावकोर दरबार की ओर से निकलनेवाली 'त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज' में गत वर्ष प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक का संशोधन त्रावंकोर के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने किया है। प्रस्तुत पुस्तक के कर्ता 'संगीताकरनामधेय श्री पार्श्वदेव' है। इनके बारे मे अभी तक कोई विशेष हकीकत मालूम नहीं है; परन्तु टी० गणपति शास्त्री स्वयं प्रस्तावना में लिखते है कि ग्रन्थकर्ता श्री पार्श्वदेव जैन-परम्परा के होने चाहिए क्योंकि उनका नाम एक जैन तीर्थंकर के नाम से मिलता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थ का, मेरे अभिप्राय मे, अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि उसमें तत्कालीन केवल देशी संगीत का ही वर्णन है। उस ग्रन्थ की भाषा, उसमें आया हुआ विषय और उसमें किए हुए वर्णन को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ग्रन्थकार अर्थात् श्री पार्श्वदेव संगीतरत्नाकर के समय के आसपास के होने चाहिए। ग्रन्थकार स्वयं द्वितीय अधिकरण के प्रथम श्लोक में ही भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख करते है। भोजराज का समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वर का ई० सन् ११८३ है। इस प्रमाण से ग्रन्थकार अथवा ग्रन्थ का समय ई० सन् ११८३ के बाद का सिद्ध होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'संगीतसमयसार' है। इसका उल्लेख दूसरे ग्रन्थकारों ने भी किया है। उसमें से रागविबोधकार श्री सोमनाथ ने अपने 'रागविबोध' के तृतीय विवेक में 'प्रबन्ध' के बारे में लिखते हुए 'तथा च पार्श्वदेव' ऐसा कह कर लिखा है कि—"चतुर्भिर्धातुभिः षड्भिश्चांगैर्यस्मात्प्रबध्यते, तस्मात्प्रबन्ध कथितो गीतलक्षणकोविदै।" इस प्रकार रागविबोधकार ने 'संगीतसमयसार' के प्रबन्ध की व्याख्या की है। उनका समय शक १५२१ अर्थात् ई० सन् १६०० है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ ई० सन् १२०० और १६०० के बीच का होना चाहिए। अब इस ग्रन्थ के अन्तरग को देखें।

ई० सन् १२०० के बाद का सगीत-विषयक सबसे बडा ग्रन्थ सगीतरत्नाकर है। इसके बाद संगीतदर्पण, सगीतपारिजात, रागविबोध आदि ग्रन्थ आते है। सगीतरत्नाकर का समय ई० सन् १२१० से १२४७ तक निश्चित है। सगीतरत्नाकर और संगीतसमयसार के कर्त्ताओं ने एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया है। शायद दोनों के ग्रन्थ एक दूसरे

के देखने में न भी आए हों। दोनों ग्रन्थों का विषय एक है, परन्तु भाषा भिन्न है। संगीतरत्नाकर में प्रत्येक विषय का वर्णन है जब कि संगीतसमयसार में ऐसा नहीं है। मार्ग और देशी इन दोनों पद्धतियों का यथायोग्य वर्णन संगीतरत्नाकर में है, जबकि संगीत समयसार में केवल देशी संगीत के बारे में ही लिखा है, और देशी संगीत के बारे में जितना वर्णन संगीतरत्नाकर में है उतना ही संगीतसमयसार में भी है। इतना ही नहीं, जितने देशी रागों के नाम और लक्षण संगीतरत्नाकर में दिए हैं, उतने ही रागों के नाम और लक्षण संगीतसमयसार में भी हैं। केवल विषय नियोजना और भाषा भिन्न है। संगीत-रत्नाकर ग्रन्थ पूर्ण स्वरूप में है, ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु संगीतसमयसार त्रुटित और कहीं-कहीं तो असम्बद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ तृतीय अधिकरण में देशी रागों के विभाग जैसे कि रागाग, भाषाङ्ग, क्रियाग, उपाग आदि बतलाने के बाद फौरन ही सप्त स्वरों के नाम तथा श्रुति-व्यवस्था दी है। फिर तुरत ही सब विभागों में आए हुए रागों के नाम दिए हैं। अब हम प्रस्तुत पुस्तक में आए हुए नौ अधिकरणों (प्रकरणों) को देखें।

१ प्रथम अधिकरण में नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिस्वरूप, उसके भेद, मिश्रध्वनि, शारीरलक्षण, गीत-लक्षण और उसके भेद—आलप्ति, वर्ण, अलकार आदि विषयों का समावेश है। नादोत्पत्ति के बाद स्वर, श्रुति, मूर्छना आदि की व्याख्याएँ देनी चाहिए थी परन्तु वे इस ग्रन्थ में दिखाई नहीं देती। आलप्ति इत्यादि का वर्णन श्रुति, स्वर की व्याख्या के बाद आना चाहिए। स्थायी और दूसरे मिलाकर तेरह अलकार और सात ही गमक दिए है। शायद ग्रन्थकार ने उस समय जितने अलकारो और गमकों का प्रयोग होता होगा, उतने ही दिए हैं—ऐसा भी कहा जा सकता है।

२ द्वितीय अधिकरण में आलाप के भेद, स्थायी के नाम, करण और उनके स्वरूप दिए हैं। प्रस्तुत वर्णन संगीतरत्नाकर से जरा भी भिन्न नहीं है। स्थायी के नामों को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने महाराष्ट्र तथा कर्णाटक में प्रचलित संगीत की तरफ विशेष ध्यान दिया है। कर्णाटकी नाम बहुत बार देखने में आते हैं। इससे ग्रन्थकार स्वयं कर्णाटक की तरफ के हों, ऐसी सम्भावना होती है। जैसे कि जोडणे (रूपणा), गीनाचे ठाय, जोडाचे ठाय, सादाचे ठाय, शारीरचे ठाय, सुयेय, इन्दुथायी, घरीमेल्ली, निरकरड, मनगणे, नानगणे, उट्टुट्टुल, परिवडी, बुद्धाये इत्यादि स्थायी के नामों से ग्रन्थकर्ता का कर्णाटकीपना समझा जा सकता है।

वादी-स्वर अर्थात् जीव-स्वर। जिस राग में जो स्वर मुख्य हो अथवा जिसके बिना रागदर्शन ही न हो सके वह वादी-स्वर है। उसकी सुन्दर व्याख्या इस ग्रन्थ में दी है—

"सप्तस्वराणा मध्येऽपि स्वरे यस्मिन् सुरागता।
स जीवस्वर इत्युक्ते अंशो वादी च कथ्यते॥"

संवादी, विवादी और अनुवादी स्वरो की व्याख्या भी इतनी ही स्पष्ट दी हुई है।

आलप्ति करने की पद्धति संगीतरत्नाकर के साथ बिलकुल मिलती-जुलती है, केवल भाषा ही भिन्न है। गानेवाला गाना प्रारम्भ करने से पूर्व जिस राग में गाना हो उस राग के आलाप गाने के बाद ही स्थायी गाता है। यह पद्धति पूर्व में भी थी। ऐसा ही वर्णन इस पुस्तक में है—

"ततो गायनः पूर्वोक्तप्रकारेण रागस्याकार स्थापना च दध्यात्।
रागालप्तिः क्षेत्रशुद्धियुंता तालविवर्जिता।
रागस्य शुद्धता क्षेत्रशुद्धिरित्यभिधीयते॥२८॥
गीतस्योत्पत्तिहेतुत्वाद्राग' क्षेत्रमिहोच्यते।
ततो रूप (क) ? रागेण तत्ताल नातिविस्तराम्॥२६॥"

इसके पश्चात् स्थायी के लक्षण दिए हुए है और वे सब लोकप्रसिद्ध है—ऐसा ग्रन्थकार स्वय ही कहते है।

आगे जाने पर रागों के अश दिए है। उनमे यह श्लोक महत्त्व का है—

"अशो जनकरागस्य कारणांश इतीरितः।
श्रीरागजनिते गौडे श्रीरागस्याशको यथा॥
अशोऽन्यरागस्य पुन. कार्याश इति कथ्यते॥"१०७॥

यहॉ कारणाश की व्याख्या देते हुए श्रीराग में से उत्पन्न गौड राग का उदाहरण दिया है, यह बहुत महत्त्व का है। श्रीराग में से ही गौड राग की उत्पत्ति हुई है—ऐसा इसका स्पष्ट अर्थ होता है। सगीतरत्नाकर में लिखा है कि गौड़ राग टक्कग्राम राग में से उत्पन्न होता है और वहॉ उसका वर्णन टक्कराग के नीचे ही किया है—

"गौडस्तदगत्रि (नी ?) न्यासग्रहाश. पचमोज्झितः।"

अर्थात् पचमस्वर हीन गौड़ राग की टक्कराग मे से उत्पत्ति हुई है। सगीतरत्नाकर में श्रीराग की व्याख्या अलग दी हुई है। वह राग किस ग्राम राग से उत्पन्न' हुआ है,

यह कहा नहीं है। संगीतसमयसार इसे स्पष्ट बतलाता है कि—

> 'श्रीरागष्टकरागाग, मन्तारो मन्द्र गस्तथा।
> रि पाभ्याम् विहीनोऽत्र समशेषस्वराश्रय ।
> षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वारे प्रयुज्यते ॥'

श्रीराग टक्कराग का एक अंग है। उसमें तार म से मन्द्र ग तक उसकी व्याप्ति है। ऋषभ एवं पंचम वर्जित है। बाकी के सा, ग, म, ध, नि, स्वर समस्वर हैं। षड्जस्वर अंश, न्यास और ग्रह है। इस राग की योजना वीररस में होती है।

अब संगीतरत्नाकर की व्याख्या देखें। उसमें 'अधुना प्रसिद्ध देशीरागलक्षण' के नीचे श्रीराग सर्व प्रथम लिया है। लक्षण इस प्रकार है—

> षड्ज-षाड्जीसमुद्भूत श्रीराग स्वल्पपंचमम्।
> मन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धार तारमध्यमम्।
> समशेषस्वर वीरे शान्ते श्रीरागनामकः ॥'

षड्ज ग्राम में षाड्जी जाति से यह राग उत्पन्न होता है। इसमें अल्प पंचम है। षड्जस्वर अंश तथा ग्रह न्यास है। मन्द्र गान्धार से तार मध्यम तक व्याप्ति है। बाकी के स्वर सम हैं। वीर रस में योजना होती है। दोनों ग्रन्थों के लक्षण एक विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में समान मिलते हैं। संगीतसमयसार ऋषभ और पंचम दोनों स्वरों का निषेध करता है जब कि रत्नाकर में पंचम ही अल्प किया है। बाकी सभी लक्षण वैसे ही हैं—ग्रह, अंश, न्यास, व्याप्ति, रस सब कुछ एक हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संगीतरत्नाकर के समय में तो 'श्रीराग' का संपूर्ण स्वरूप ही अधिक प्रचलित होगा, और यदि ऐसा हम मान लें तो संगीतसमयसार ग्रन्थ की कुछ रागों की वर्गीकरणपद्धति रत्नाकर की अपेक्षा कुछ भिन्न होनी चाहिए, ऐसा अनुमान होता है। परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर रत्नाकर में ही आए हुए राग, रागांग, भाषांग, क्रियांग इत्यादि प्रकार के राग इसमें हैं भिन्न हैं। इस अनुमान को तनिक अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है, अर्थात् प्रत्येक प्रमुख राग में जो वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वर होते हैं, उनमें से विवादी-स्वरों को [redacted] रागों में इस तरह स्थान देते हैं जिससे राग के मूल स्वरूप में रंग भी चढ़ जाए, परन्तु उसकी शोभा हो जाय। विवादी स्वर तो प्रचार के होते हैं। यह प्रकार ऐसा होता है कि यदि उन्हें राग में स्थान दिया जाय तो राग ही बिगड़

जाय। उसे तो हम छोड ही दें। दूसरा प्रकार ऐसा है कि थोडे परिमाण में विवादी-स्वरो को लेना, जिससे राग के विस्तार में बहुत सहायता पहुँचे। अब इस तरह हम देखेंगे तो संगीतसमयसार के औढव स्वरूप और संगीतरत्नाकर के स्वल्पपंचमवाले स्वरूप इन दोनों का निर्णय हो जायगा। संगीतरत्नाकर मे आए हुए ग्रामराग और जातियों के वर्णन में भी बहुत से स्थानो पर हमे उन-उन रागो के संपूर्ण स्वरूपो के अतिरिक्त षाडव और औढव स्वरूपो के लक्षण मिलेंगे। और इस बात से उपर्युक्त वर्णन का समर्थन ही होता है। इस समय भी हम किसी भी श्रेष्ठ राग में उसके विवादी-स्वरो को रखकर या निकाल कर गा सकते है और यही बात प्राचीन रागो के षाडव, औढव और सम्पूर्ण स्वरूपों का समर्थन करती है। लगभग एक ही समय के ग्रथों मे एक राग का औढव स्वरूप एक ग्रंथ में और उसी राग का सम्पूर्ण अथवा षाडव स्वरूप दूसरे ग्रंथ में जब देखने में आता है तब दूसरे तर्क की संभावना ही नहीं रहती। इसी प्रकार भैरव, हिंडोल, मालकंस इत्यादि प्राचीन रागों के वर्णन पर से उन-उन रागो को सुलझाना पड़ेगा। अब तृतीय अधिकरण को देखें।

३. इस अधिकरण मे केवल उस समय के प्रचलित देशी रागो का ही वर्णन है। रागो के रागाग, भाषाग, उपाग, क्रियाग आदि भेद किए है और वे प्राचीन प्रणाली के अनुसार है। मध्यमादि, तोडी, वसन्त, भैरवी, श्री, शुद्धबंगाल, मालवश्री, वराही, गौड, धनाश्री, गुंडकृति, गुर्जरी, देशी—ऐसे तेरह रागांग राग उनके लक्षण-सहित दिए है। वेलावली, अन्धाली, सायरी (असावरी ?), फल (?) मंजरी, ललिता, कैशिकी, नाटा, शुद्ध वराटी, श्रीकण्ठी ये नौ भाषाग राग दिए है। बाद में वराही आदि २१ उपाग राग दिए गए है। इन सबको मिलाकर कुल ३३ रागो के प्रत्यक्ष लक्षण लिखे हैं। उनमें से कुछ को छोडकर बाकी सभी के लक्षण संगीतरत्नाकर से मिलते है। उनमें से कुछ रागों को क्रमशः मै यहाँ देना चाहता हूँ।

रागाङ्गानि

१. मध्यमादि

मध्यमग्रामसम्भूता मध्यमांशग्रहान्विता ॥७१॥
मध्यमादिरितिख्याता शृंगारे विनियुज्यते।
एतामेव प्रयुज्यादौ वैणिका वाशिकास्तथा ॥७२॥

इस श्लोक में आया हुआ लक्षण संगीतरत्नाकर में भी इसी प्रकार मिलता है और यह 'मध्यमग्राम' के लक्षण के नीचे ही दिया है। जैसे कि—

(मध्यमग्राम) तदुद्भवा,

मध्यमान्निर्ग्रहांशा

इति मध्यमादि ॥सं० रत्नाकर रागाध्याय ॥६१॥

२ तोडी

अंग षाडवरागस्य सम्पूर्णश्च समस्वरम् ॥

षड्जनाम गमन्द्रा च न्यासांशग्रहमध्यमा ।

तोड्डीनाम प्रसिद्धोऽयं रागो हर्षे नियुज्यते ॥१४॥

(शुद्धषाडव)———तोडिका स्यात्तदुद्भवा ॥७५॥ रत्नाकरश्लोक

मध्यमांशग्रहन्यासा सतारा कम्पपंचमा ।

संतेतस्वरा मन्द्रगान्धारा हर्षकारिणी ॥७६॥

३ वसन्त

मार्गहिन्दोलरागाङ्ग हिन्दोलो वेडि (देशि ?) सन्नित ।

(मार्गहिन्दोल) अंशन्यासे ग्रहे षड्जस्तस्य तारे तु मध्यम ॥१५॥

षड्जस्वरो भवेन्मन्द्र तोहितो (तोडितो ?) रिधवर्जित ।

गपयो कम्पितश्चैव शृंगारे विनियुज्यते ॥१६॥

अयमेव वसन्ताख्य प्रोक्तो रागविचक्षणैः ॥

(हिन्दोल में से) वसन्तस्तत्समुद्भव ॥

पूर्णस्तन्नरागो दयी हिन्दोलोऽप्येष कथ्यते ॥१६॥ सं० रत्नाकर।

रत्न राग ही देशी हिन्दोल कहा जाता है।

४ भैरव

भिन्नषड्जरागोद्भवो मन्यासो धांशसुग्रिन ।

समस्वरो रिपयत्त प्राध्ने भैरव स्मृत ॥ स समयसार

(भिन्नषड्ज) भैरवस्तत्समुद्भव ।

धांशो मान्तो रिपत्यक्त प्रार्थनायां समस्वर ॥ स रत्नाकर अ० २ १८

इन दोनों के लक्षण एक ही हैं।

५. श्रीरागः

श्रीरागष्टक्करागाङ्गं मतारो मन्द्रगस्तथा ।
रिपंचमविहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः ।
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते ॥सं. समयसार

षड्जषाड्जीसमुद्भूतं श्रीरागं स्वल्पपंचमम् ।
सन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धारं तारमध्यमम् ।
समशेषस्वरं वीरे शास्ति श्रीकरणाग्रणीः॥

२--१६१ सं० रत्नाकरे

श्रीराग की व्याख्याओ में जो मतभेद है, उसके बारे में ऊपर ही कहा गया है। सगीतसमयसार में श्रीराग को टक्क राग का अंग माना है, यह ऊपर के श्लोक से स्पष्ट है। श्रीराग में ऋषभ और पंचम वर्जित है। ऐसा स्वरूप अन्य किसी भी ग्रन्थ में नही दिखाई देता।

६. शुद्धवंगाल

शुद्धषाडवरागागं शुद्धवंगालसंज्ञकः ।
न्यासांशो मध्यमेनास्य प्रहर्षे विनियोजनम् ॥ स समयसार

षाडवादेव वंगालो ग्रहांशन्यासमध्यम· ।
प्रहर्षे विनियोक्तव्य· प्रोक्तः सोढलसूनुना ॥ सं० रत्नाकर २-७७
इसमें दोनों के लक्षण एक ही है।

७ मालवश्री

मालवादे (:)भवेदंगं कैशिकस्य समस्वरा ।
सम्पूर्णा तारमन्द्रस्थ-षड्जस्वरविराजिता ॥
षड्जांशन्याससम्पन्ना मालवश्रीरियमता ।
मूर्छना शुद्धमध्या चेत् सैव हर्षपुरी मता ।
शृङ्गारे विनियोगः स्यादनयोस्तु द्वयोरपि ॥ सं. समयसार

( सशेष )

# श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस० ]

( क्रमागत )

बक्र ग्राम—५०, २०७ आदि। होय्सल नरेश नरसिंह ने यह गाँव गोम्मटेश्वर को दान किया था, जब इन्होंने दिग्विजय से लौटकर उनके दर्शन किये थे। उपरान्त वीरबल्लाल नरेश ने भी यह ग्राम गोम्मटेश्वर को भेंट किया था। बेक्क ग्राम के गुरुवपसोरप (?) आदि प्रमुखों ने चामुण्डरायबस्ति के लिये भूमि प्रदान की था। यह ग्राम श्रवणबेलगोल के आस-पास होना चाहिये।

बेगूर ग्राम—१३०। यहाँ के बैचणसेट्टि दानशील थे।

बेडुगनहल्लि—१३५—१३८ दण्डाधिप हुल्ल ने इसको दान किया था।

बेल्गोल—३४, ४४, ५६, ५९ आदि श्रवणबेलगोल का अपर नाम।

बेलुहर—५२। यहाँ के सामन्त म० शुभचन्द्र के भक्त थे।

बोम्मेनहल्लि—४८८। के नागगौड ने मंगायिबस्ति के लिये दान दिया था।

मगडशाड ग्राम—३९६, के बघेरवाल जैनियों ने श्रवणबेलगोल की यात्रा की थी। यह मार समस्त वहाँ मध्यभारत में होगा।

मारगोव ग्राम—३७७, यहाँ के हारुव सेठ प्रसिद्ध थे।

मरू राज्य—८१, ४९५ होय्सलनरेश सोमेश्वर ने इस राज्य को जीता था।

मलसकर ५६। शम्भुदेव ने महामण्डलाचार्य नयकीर्तिदेव के शिष्य चन्द्रप्रभदेव से यहाँ की भूमि खरीद कर गोम्मटदेव के दुग्धपूजन के लिए प्रदान की। इससे प्रकट है कि उस समय (शक ११९६) मन्दिर लोग अपने पास भूमि रखते थे।

मधुरपुरा—१५८, दक्षिणभारत की मदुरा नगरी से आकर अभयकीर्ति ने यहाँ समाधिमरण किया था। यह प्राचीन नगर है। ई० पूर्व ३०० वर्ष में इसका अस्तित्व मिलता है। यहाँ पाण्ड्य राजा राज्य करता था। मगस्थनीज ने इसका उल्लेख किया है। यहाँ के राजा उग्रपेरुवलुदि के दरबार में ४८ कवियों के समक्ष प्रसिद्ध काव्य 'कुरल' प्रकाशित हुआ था। प्राचीन काल में यहाँ जैनधर्म खूब फैला हुआ था। मदुरा का दि० जैन संघ प्रसिद्ध था। इसाहरण से प्रकट है कि यहाँ के संघ का आदान प्रदान उत्तर मथुरा के संघ से होता था। ई० ४७० में वज्रनन्दि ने 'द्राविड़ संघ' की स्थापना की थी (दर्शनसार)। तामिल काव्य 'मणिमेखलै' और 'शीलप्पदिकारम्' से भी प्रकट है कि मदुरा में जैनधर्म फैला हुआ था।

निर्ग्रन्थ मुनिगण नगर-ग्रामों के बाहर ठंडे मठों में रहते थे, जिनकी दीवालें बहुत ऊँची और लाल रंग से पुती होती थी। उनमे पुष्पोद्यान भी होते थे। तिराहों और चौराहों पर जैन मंदिर बने हुए थे। मुनिगण चौराहों पर बने हुए चबूतरों पर से जनता को धर्मोपदेश दिया करते थे। दशवीं शताब्दि मे शैवधर्म के प्रचार से जैनधर्म को धक्का पहुँचा था। मदुरा का कुण पांड्य नामक राजा शैव हो गया था।

मनचेनहल्लि—१०७; वेक्क ग्राम के निकट अवस्थित था।

मन्नार्कोविल—४३९; यहाँ की पद्मावतियम्म श्राविका ने पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा प्रदान की थी।

मलनूर ग्राम—८; यहाँ के उग्रसेन गुरु ने एक मास का संन्यासव्रत पाला था।

मलेयूर—४३४; इस पहाड़ी पर एक मंदिर था—यह वहीं पर कही थी।

मलेगोल—२९७; यहां के अरिष्टनेमि पंडित पर-समय-ध्वंसक प्रसिद्ध थे।

माडगढ़, माडवगढ़—३८२, ३८६, यहां के बघेरवाल जैनियों ने यात्रा की थी।

माडिगूर ग्राम; ११६; श्रुतसागर गणी के साथ यहां के नागप्प आदि व्यक्तियों ने तीर्थवंदना की थी।

मारगौंडनहल्लि—८६; इस ग्राम के गुम्मज्ज दैय्य ने गोम्मटदेव की पूजा के लिए दान दिया था।

मालवदेश—५४, १३८ व ४९९। श्री समन्तभद्राचार्य जी ने मालवदेश में भी वादभेरी बजाई थी। होय्सल नृप एरेयङ्ग ने मालव की राजधानी धारा को अधिकृत किया था। (मालवमण्डलेश्वरपुरी धारामधाचात क्षणात) सोमेश्वर ने भी मालवाधिपति पर विजय पाई थी। मालवदेश जैनधर्म का केन्द्र मौर्यकाल से चला आ रहा था।

मासवाडिनाडु प्रदेश—१२४; दक्षिण मे कहीं पर था।

मुत्तगदहोन्नहल्लि—१३३ यहाँ के गौडों ने मंगायिवस्ति के लिये दान दिया था।

मुल्लूर—४४, ५४, दंडाधिप गंगराज की माता पोचिकब्बे के गुरु कनकनन्दि इस ग्राम के थे। वह 'मुल्लुरदुरितकायक्के' कहे गये हैं। इसी ग्राम के गुणसेन पंडित भी प्रसिद्ध थे। यह जैनियों का केन्द्र था और यहां की मुनि-परम्परा प्रख्यात थी, जिसके भक्त राजा-महाराजा थे। सन् १०५८ ई० मे राजेन्द्र कोङ्गाल्व ने यहाँ के पार्श्वनाथवस्ति को भूमिदान दिया था, जिसे उसके पिता ने बनवाया था। सन् १३९० ई० में एक अन्य कोङ्गाल्व नरेश ने यहाँ की चन्द्रनाथवस्ति (मंदिर) का जीर्णोद्धार कराया था। इस राजा के गुरु विजयकीर्तिदेव आर्य शुभेन्दु के शिष्य थे। इस राजा की रानी सुगुणी देवी ने अपने अंगरक्षक विजयदेव द्वारा चन्द्रनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा करा कर भूमिदान दिया था। यह ग्राम कुर्ग प्रदेशमे था।

मैसूर, मैयिसूर, महीसूर—८३, ८४, ९८ १४०, ४३४। वर्तमान मैसूर राज्य है। यहाँ के वतमान ओडेयर वशी राजाओं म से कइ श्री गोम्मटेश्वर के अनन्य भक्त थ। उन्होंने गोम्मटदेव के लिये ग्राम भेंट किये थे। इस समय भी जैनियों के परामर्श स राजकर्मचारी श्रवणबेल्गोल तीर्थ को उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं। मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त अपन गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु-सहित इस राज्य में पधारे थे। तभी स यहाँ जैनधर्म का प्राबल्य रहा है। अशोक के समय यह देश महिषमण्डल के नाम से प्रसिद्ध था।

मोट्टेनविले ग्राम—५३, ५६। सवतिगधवारण नामक मंदिर को यह ग्राम भेंट किया गया था।

मोनेगनकट्टे ग्राम—४९६। गङ्गवाडि में था, जहाँ रामदेवविभु ने एक विशाल जिनालय निर्माण कराया था।

मोरपूर ग्राम—४०८। दक्षिण का एक ग्राम।

मोरिङ्गेरे—५१। एक तीर्थ समझा जाता था। शक १०४१ में पयरण ने यहाँ शरीर त्याग किया था।

मोसले ग्राम—८६, ८७ व २६१। जैनधर्म का केन्द्र था।

यगलिय—८९। यहाँ के कविसेट्टि ने दान दिया था।

रावनहल्लि—८३। मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने यह ग्राम गोम्मटदेव को भेंट किया था।

रायरायपुर—५३ १२४ व १३७ होय्सल धान का एक दुर्ग।

लंकापुरी—१०९। चामुण्डराय के लेख में इसका उल्लेख है।

लाडदेश—१२४, १३० व ४९१ होयसल नरेशों ने इस देश को भी जीता था। यह गुजरात का एक भाग था।

वनवासि राज्य—३८ व १३८। होय्सलनरेश ने इसपर भी अधिकार किया था। यह वर्तमान शिवमोग्ग जिला था। कादम्ब राजाओं का मुख्य स्थान था।

वल्लूरग्राम—१३८ दण्डाधिप हुल्ल के दान का एक ग्राम।

वस्तियग्राम—८३। कृष्णराज ओडेयर ने गोम्मटेश्वर को यह ग्राम भेंट किया था।

वाराणसी—१३३, १४० व ४८६। वर्तमान बनारस है। लेखों में यह अपनी पवित्रता के लिये प्रसिद्ध रहा है। यहीं पर तीर्थंकर सुपार्श्व और पार्श्व का जन्म हुआ था। चीनी यात्री ह्युनत्साग ने इस राज्य को ६६७ मील में विस्तृत लिखा है। इसकी राजधानी, बनारस, तीन मील लम्बी व १ मील चौड़ाई में बसा हुई थी। यह नगर वना व असी नालों के बीच में अवस्थित होने के कारण वाराणसी (बनारस) कहलाता है। यह संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा है।

विन्ध्यगिरि ३८; श्रवणबेलगोल के बडे पर्वत का नाम; जिसपर गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति स्थित है।

विशाला—१, इस लेख मे भ० महावीर के प्रसग मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिये यह वैशाली (विशाला) होना चाहिये। कुण्डग्राम उसके निकट अवस्थित था। लेख मे इस प्रकार उल्लेख है:—

'तदनु श्री-विशालयम् (लायाम्) जयत्वद्य जगद्धितम्।
तस्य शासनमव्याज प्रवादि-मत-शासनम् ॥४॥'

वेगूर—१५३; यहाँ के सर्वज्ञ भट्टारक प्रसिद्ध थे।

वेलगोल—१७-१८; श्रवणबेलगोल का अपर नाम है।

वेल्माद ग्राम—७, कित्तूर मे यह ग्राम था और यहाँ के धर्मसेन व बलदेव गुरु प्रसिद्ध थे।

वैदिश नगर—५४; श्री समन्तभद्राचार्य जी ने यहाँ भी वादभेरी बजाई थी।

शशपुर=अगडि ग्राम—५६, ४५९; होयूसल राजवंश का मूलस्थान यही था। यहीं पर विनयादित्य राजा राज्याधिकारी थे। यहाँ वासन्तिकादेवी प्रसिद्ध थी, जो होयूसल राजवंश की कुलदेवता थी। यह सोसेवुर (शशकपुर) मैसूर स्टेट के कडूर नामक जिले के मूडुगेरे तालुक मे अंगडि ग्राम बताया जाता है (Ep Car., VI, Intro p 14)। दशवी शताब्दि मे यह स्थान जैनधर्म का गढ़ था। यहाँ पर वासन्तिका देवी के मंदिर से भी प्राचीन जैनमंदिर थे और जैनगुरुओ की परम्परा भी यहाँ थी। उनमे द्राविड सघी कोण्डकुन्दान्वयी पुस्तकगच्छी मौनी भट्टारक के शिष्य और श्रीमान् इरिव बेडेग के गुरु विमलचद्र पडितदेव ने यहाँ समाधिमरण किया था। इरिव बेडेग पश्चिम चालुक्य नरेश सत्याश्रय (९९७—१०९ ई०) के सामन्त थे। दशवी शताब्दि के अंतिम पाद मे यहाँ सुदत्त नामक मुनिराज रहते थे। एक दिन होयूसल सरदार अपने कुलदेवता की पूजा करने गए और वहाँ इन्ही जैनगुरु से धर्मोपदेश सुनने लगे। इतने मे एक भयंकर सिंह वन मे से आ धमका। जैनगुरु ने सरदार से कहा—'मारो, सल।' (पोय् सल।) इसपर सल ने सिंह को मार भगाया। जैनगुरु के 'पोयूसल' कहने से वह सरदार उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया और उसकी सन्तान भी पोयूसल' कहलाई, जो उपरान्त 'होयूसल' भी कहलाने लगी थी।

श्रवणबेल्गुल ४३३—४३४, इसी नाम की पुस्तक मे विस्तृत विवेचना पढ़ना चाहिये, जिसे मैसूर-सरकार ने प्रकाशित किया है।

शिवगंगे—५३ यहाँ शान्तला देवी ने शरीर-त्याग किया।

सत्यमगल ग्राम—९८; यहाँ के देवराज की मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिवस (१७४८ शाके मे) हुई थी। वह मैसूर नरेश श्रीकृष्ण ओडेयर के अंगरक्षक थे।

सल्य—५९, ४९३ व ४९५। श्रवणबेलगोल के पास एक ग्राम, जिसे होय्सल नरेशों ने दान किया था।

सवणेरू—८०, ९०, १३७, १३८ व ३६१। महाप्रधान हुल ने नरसिंह नृप से इस ग्राम को प्राप्त करके गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए दान किया था।

सागर ग्राम—१२४ श्रवणबेल्गोल के आसपास था।

सिंधुदेश—५४, श्री समन्तभद्राचार्य ने यहाँ भी वादभेरी बजाई थी। यह वर्तमान का सिंध प्रांत हो सकता है, परंतु प्राचीनकाल में उज्जैन के पास का प्रदेश भी सिंधु कहलाता था। इन दोनों में से कहीं पर आचार्य श्री ने वादभेरी बजाई थी। भ० महावीर के समय में सिंधु सौवीर के सम्राट् उदयन अपने सम्यक्त्व के लिये प्रसिद्ध थे।

सिंहल देश—५५, यहाँ के नरेश से श्री यशःकीर्ति मुनिराज ने सम्मान पाया था। वर्तमान का सीलोन (लंका) सिंहल देश माना जाता है। यहाँ अनुराधापुर में बहुत पहले से निर्ग्रंथ मुनियों का आवास था—वे निर्ग्रन्थ राजमान्य थे।

सेवुण नगर—४९९, होय्सल नरेश सोमेश्वर ने यहाँ के राजा को नष्ट किया था।

सोमनाथपुर—११७, कोननाडु (?) में था।

हुल्लूर—९५, यहाँ के केतिसेट्टि ने गोम्मटेश के नित्याभिषेक के लिए दान दिया था।

हाडुवरहल्लि—१३७, यहाँ के शम्भुदेव ने दान दिया था।

हाडोनहल्लि—१०७, बेक ग्राम का सीमा तक ग्राम।

हिरिसालि ग्रा०—१२१, विंध्यगिरि पर ब्रह्मदेव मंदिर यहाँ के गिरिगौड के कनिष्ठ भ्राता रङ्गय्य ने निर्माण कराया था।

हुलिगेरे—१३१, यहाँ के सोवण्ण नामक महानुभाव ने नगर जिनालय व आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए दान दिया।

हुल्लगट्ट ग्राम—१२४, बेक की सीमा का ग्राम।

हल्लेक ग्राम—५३, श्रवणबेल्गोल के आस पास था।

होन्नेनहल्लि ग्रा०—१०७, बेक ग्राम की सीमा पर था।

होसपट्टण ग्राम—१३६, बुक्कराय ने जिन जैनियों को बुलाया था, उनमें यहाँ के जैनी भी थे।

होसहल्लि ग्राम—८३, ८४ व ४३४। कृष्णराज ओडेयर की सनद में इसका उल्लेख है।

---

## वैदिक एवं जैनधर्म में समानरूप से या कुछ हेरफेर से पाये जानेवाले कतिपय पद्य—

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ (जैन)
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जनार्दन ॥ (वैदिक)
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्था गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ (जैन)
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्था गतोऽपि वा !
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ (वैदिक)
आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।
ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥ (जैन)
यान्तु देवगणाः सर्वे पूजामादाय मामकीम्।
इष्टकामार्थसिद्ध्यर्थं पुनरागमनाय च ॥ (वैदिक)
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ (जैन)
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥ (वैदिक)
अज्ञानतिमिरांधस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (जैन)
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (वैदिक)
हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वानामिकामूलपर्वणि।
अङ्गुष्ठं निक्षिपेत्सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥
अधोमुखीयमेवस्यात्स्थापनी मुद्रिका तथा।
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात्सन्निधापनी ॥ (जैन)
हस्ताभ्यामञ्जलीं कृत्वाऽनामिकामूलपर्वणोः।
अङ्गुष्ठौ निःक्षिपेत् सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥
अधोमुखी त्विय चेत् स्यात् स्थापनी मुद्रिका स्मृता ॥
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योश्च संयोगात् सन्निधापनी। (वैदिक)

(क्रमशः)

—के० भुजबली शास्त्री

# तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ ले०—श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए० ]

( क्रमागत )

२ आक्षेप—वृत्ति शब्द का वाच्य भाष्य भी हो सकता है, और वह स्वय राजवार्तिक भाष्य है जो अकलक 'वृत्ति' शब्द से कहना चाहते हैं। राजवार्तिक (पृ० १९१) मे आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिक भाष्य में 'स्यान्मत धर्मादीना पचानामपि द्रव्याणां' शब्दों द्वारा द्रव्यों की सख्या का पाँच से निर्देश किया है।

२ उत्तर—पूर्व लेख में बताया जा चुका है कि राजवार्तिक का उल्लेख कहीं भी 'वृत्ति' नाम से नहीं मिलता, अतएव वृत्ति का वाच्य यहाँ राजवार्तिक भाष्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'वृत्तौ पचत्ववचनात्' वाली वार्तिक में 'वृत्तौ उक्तम्' कह कर 'अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पचत्व व्यभिचरन्ति" रूप से जो पाठ दिया है, वह 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्तिकगत "स्यान्मत धर्मादीना पचानामपि द्रव्याणा' आदि पाठ से शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। यह बात पूर्व लेख में बताई जा चुकी है। 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि गत शब्दों से तो अकलंक ऐसी वृत्ति का निर्देश करना चाहते हैं जहाँ धर्मादि पाँच ही द्रव्यों के माने जाने का उल्लेख हो, तथा 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्तिकगत पाठ द्वारा ये बतलाना चाहते हैं कि "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला" सूत्र में सर्वप्रथम 'आकाश' का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वह धर्मादि द्रव्यों का आधारभूत है। 'धर्मादीना पचनामपि द्रव्याणां' रूप से पाँच द्रव्यों का प्रसगवश कथन किया है। अकलकदेव को यहाँ केवल पाँच द्रव्य और आकाश का आधार आधेय भाव विवक्षित है, इससे वे द्रव्य की इयत्ता आदि के विषय में कुछ नहीं कहना चाहते। अतएव उक्त वाक्यों की परस्पर सबद्धता किसी भी हालत में नहीं बैठायी जा सकती। अत 'वृत्ति' का लक्ष्य भाष्य भी नहीं हो सकता।

३ आक्षेप—राजवार्तिकगत 'वृत्ति' शब्द का वाच्य उमास्वातीय स्वोपज्ञ भाष्य इसलिये नहीं हो सकता कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उस भाष्य की वृत्ति शब्द से प्रख्याति नहीं। दूसरी बात राजवार्तिकगत "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पचत्व व्यभिचरन्ति' वाक्य, तत्त्वार्थभाष्यगत "अवस्थितानि च। न हि कदाचित्पचत्व भूतार्थत्व च व्यभिचरन्ति"—वाक्यों से भिन्न पड़ते हैं, क्योंकि राजवार्तिककार ने समस्त एक ही वाक्य दिया है, जब कि भाष्य में 'अवस्थितानि च' और 'न हि कदाचित्' आदि रूप से दो वाक्य हैं। तीसरी बात, हो सकता है कि प्रस्तुत श्वेताम्बर भाष्य की रचना राजवार्तिक के बाद हुई हो, और भाष्यकार ने वह

पंचत्वविषयक वाक्य राजवार्त्तिक से कुछ परिवर्त्तन के साथ ले लिया हो, अथवा दोनों ग्रन्थों में उक्त वाक्य की रचना एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर बिल्कुल स्वतंत्र हुई हो।

३ उत्तर—लेखांक (३) में हरिभद्र और सिद्धसेन की टीकाओं से उद्धृत करके ऐसे वाक्य बताये जा चुके हैं, जहाँ तत्त्वार्थभाष्य को वृत्ति कहा गया है (देखो पृ० १६३)। सिद्धसेन और हरिभद्र ने अनेक स्थलों पर भाष्य को 'वृत्ति' नाम से लिखा है। अतएव यह कहना कि भाष्य की प्रसिद्धि वृत्ति से नहीं थी, भ्रममूलक है। दूसरी शंका में ऊपर जो एक वाक्य और दो वाक्य का भेद बताकर राजवार्त्तिकगत और तत्त्वार्थभाष्यगत पाठों का भिन्नत्व बताने का प्रयत्न है, वह भी निर्मूल है। वास्तव में देखा जाय तो दोनों ग्रन्थों में एक ही वाक्य है, क्योंकि दोनों जगह 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत 'अवस्थितानि' शब्द की व्याख्या अभिप्रेत है। सम्पादन की दृष्टि से ग्रन्थ में स्पष्टबोध करने के लिये ये वाक्य निम्न प्रकार से होने चाहिये थे :

(अ) अवस्थितानि च—न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति (तत्त्वार्थभाष्य) [ यहाँ 'अवस्थितानि च' इस पद में 'च' इसलिये आता है कि ग्रन्थकार 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत समास बता रहे हैं कि नित्यानि च अवस्थितानि च अरूपाणि च ]।

(आ) अवस्थितानि—धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति (राजवार्तिक)—[ यहाँ राजवार्त्तिककार भी अवस्थितानि पद का खुलासा कर रहे हैं ]।

अतः उक्त कथन ठीक नहीं।

उक्त दोनों पाठ बिलकुल अक्षरशः क्यों नहीं मिलते, इसका कारण प्रति-लेखक या सम्पादक की स्खलना भी हो सकती है। अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में 'उक्तं च' रूप में दिये हुए पाठ उन ग्रन्थों के मूल पाठों से कुछ भिन्न पड़ते हैं।* अर्हत्प्रवचनहृदय और अर्हत्प्रवचन की एकता बताने के लिये आपने भी यह युक्ति दी है। श्रीमद्राजचन्द्र गुजराती संस्करण में अन्य ग्रन्थों के ऐसे अनेक अशुद्ध पाठ दिये हैं, जो उन ग्रन्थों में अक्षरशः नहीं पाये जाते। अतएव एकाध शब्दमात्र के हेरफेर होने से राजवार्त्तिक और भाष्य के उद्धरणों

---

* वात्स्यायन आचार्य ने स्मृति का (स्मृतित) एक श्लोक निम्न प्रकार से उद्धृत किया है—

वत्सः पुस्तवने मेध्यः श्वा मृगग्रहणे शुचिः। शकुनिः फलपाते तु स्त्रीमुखं रतिसंगमे॥ (पृ० १४७)

यही श्लोक बोधायन में निम्नरूप से है—

वत्सः पुस्तवने मेध्यः शकुनिः फलशातने। स्त्रियश्च रतिसंसर्गे श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥

मनुसंहिता में यही श्लोक—

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने। प्रस्रवे वा शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः॥

वशिष्ठधर्मसूत्र और विष्णुस्मृति में भी यही श्लोक साधारण हेरफेर से दिया है।

को सर्वथा भिन्न बताकर वृत्ति का कुछ दूसरा अर्थ करना ठीक नहीं। तीसरी बात तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिक की रचना के विषय में कही गई है। वास्तव में यदि 'तत्त्वार्थभाष्य की रचना राजवार्तिक पर से की गई है' एतद्विषयक और कोई प्रबल युक्ति दे सकते, तो इस चर्चा का यहीं अन्त हो जाता, और 'वृत्ति' आदि शब्दों की खींचातानी में जो आपको और अनेकान्त सम्पादक को अर्थहीन इतना घोर परिश्रम करना पड़ा है, वह न करना पड़ता। परन्तु ऐसी कोई युक्ति तो नहीं दी गई, केवल इस बात की सम्भावना व्यक्त की गई है। अकलंक के प्रायः समकालीन हरिभद्र और सिद्धसेन आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने तत्त्वार्थभाष्य के ऊपर टीकायें लिखी हैं। यदि भाष्य, राजवार्तिक के ऊपर से लेकर बनाया गया होता, तो क्या उन्हें इस बात की खबर नहीं होती? तथा भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने जो प्रशस्ति दी है, उसके विषय में सम्पादकजी क्या कहते हैं? यदि बिना किसी प्रमाण के उक्त प्रशस्ति को जाली बताया जाय तो इस तरह तो प्रत्येक ग्रन्थ की प्रशस्ति जाली कही जा सकती है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में आजतक कोई ऐसी मिसाल नहीं कि किसी प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्य के नाम पर किसी व्यक्ति ने किसी ग्रन्थ के ऊपर बनावटी भाष्य लिखा हो, और जिस ग्रन्थ के ऊपर भाष्य बनाया गया हो, उसके कर्त्ता के समकालीन विद्वानों ने उस भाष्य को प्रामाणिक मानकर उसपर टीका टिप्पणियाँ लिखी हों। ऐसा करना तो एक बड़ी भारी साहित्य की डकैती मानी जायगा और ऐसी डकैती लोगों पर प्रकट हुए बिना कभी नहीं रह सकती। इस डकैती का कम से कम दिगम्बर विद्वान् तो उल्लेख किये बिना कभी न रहते। तथा यदि भाष्यकार को राजवार्तिक से कुछ लेना ही था, तो उन्होंने 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो राजवार्तिकगत वाक्य हैं, उन्हें क्यों लिया? इसमें तो उनकी बड़ी अबुद्धिमानी प्रकट होती है। तथा यदि उक्त दोनों वाक्यों को परस्परानपेक्ष स्वतंत्र रचना मानी जाय तो 'वृत्तौ उक्तं' वाले वाक्य ही दोनों विद्वानों ने एक से कैसे लिखे? इस तो एक आकस्मिक घटना ही समझनी चाहिये। अतः 'वृत्ति' शब्द का वाच्य तत्त्वार्थभाष्य नहीं हो सकता, यह बताने के लिये जो दलीलें दी गई हैं उन सबका निरसन हो जाता है।

## (४) भाष्य

आक्षेप—(क) राजवार्तिकगत 'भाष्य' शब्द का वाच्य सर्वार्थसिद्धि है, श्वेताम्बरभाष्य नहीं। भाष्य का अर्थ है स्वमत (सूत्रमत) स्थापन और परमत (शंकाकृतमत) का खण्डन। सर्वार्थसिद्धि में यह बात श्वेताम्बरीय भाष्य की अपेक्षा विस्तार से पाई जाती है। इस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्य में पाइ

जानेवाली सर्व अर्थ की सिद्धि मौजूद है। अकलंक की कृति से (राजवार्त्तिक अध्याय ५, सूत्र १, ४) स्पष्ट है कि भाष्य और वृत्ति पर्यायवाची हैं। यदि वृत्ति और भाष्य का पर्यायवाची न माना जाय, तो श्वेताम्बरीय भाष्य के लिये भी वृत्ति शब्द का प्रयोग नहीं बन सकता। अतः अकलंक को 'भाष्य' शब्द से सर्वार्थसिद्धि अभिप्रेत है।

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति को वृत्ति न कहकर अपने मन में उसे भाष्य बना देना यह बड़ी विचित्र बात है। अद्यावधि उपलब्ध किसी भी जैनग्रंथ में सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख भाष्यरूप से नहीं मिलता; पूज्यपाद ने उसे 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम से ही कहा है। फिर न मालूम सर्वार्थसिद्धि को भाष्य सिद्ध करने के लिये इतना जबर्दस्त प्रयत्न क्यों किया जा रहा है। स्वयं अनेकांत के सम्पादक भी राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य सर्वार्थसिद्धि स्वीकार नहीं करते। पूर्व लेख में कहा जा चुका है कि यदि स्वमत-स्थापन और परमत-खण्डन-विधायकत्व को ही भाष्य की परिभाषा मानी जाय, तो फिर न्याय और दर्शन के समस्त ग्रन्थों को भाष्य ही मानना पड़ेगा। फिर तो न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, स्याद्वादरत्नावतारिका, प्रमाणमीमांसा आदि सब ग्रन्थों को भाष्य ही कहना चाहिये। इन सभी ग्रन्थों में 'सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्य में पाई जानेवाली' बातें मौजूद हैं। तथा स्वमतस्थापन और परमतखंडनरूप भाष्य का लक्षण सर्वार्थसिद्धि में ही घटित होता है, विवादास्पद श्वेताम्बरीय भाष्य में नहीं, यह तो कुछ बताया नहीं गया जिससे श्वेताम्बरीय भाष्य के भाष्यत्व से व्यावृत्ति हो सके। वास्तव में वृत्ति और भाष्य को अभिन्न मानना बड़ा भारी भ्रम है। कोशकारों ने सूत्र, वृत्ति, वार्त्तिक, भाष्य आदि के भिन्न-भिन्न लक्षण किये हैं। स्वयं लेखक ने मेरे पूर्व लेख में उद्धृत हेमचन्द्र और बालगंगाधर तिलक की टीका और भाष्य की व्याख्याओं को स्वीकार करते हुए, "वस्तुतः टीकाओं में तो और-और विषय-संबंधी प्रपंच रहते हैं, परन्तु भाष्य में उन प्रपंचों के साथ यह स्वमत-स्थापन और परमतखण्डन-संबधी प्रपंच विशेष रहता है।" इन शब्दों द्वारा भाष्य और वृत्ति (टीका) के भेद को स्पष्ट माना है। अकलंक सर्वार्थसिद्धि वृत्ति आदि वृत्ति-ग्रन्थों के आधार से अपना तत्त्वार्थराजवार्त्तिक नामक वार्त्तिक लिखकर उसपर तत्त्वार्थराजवार्त्तिक भाष्य लिख रहे हैं, फिर सर्वार्थसिद्धि को भाष्य कैसे कहा जा सकता है? उसे तो वृत्ति मानकर उसपर अकलंक का वार्त्तिक बना है। श्वेताम्बरीय भाष्य का वृत्ति और भाष्य दोनों नाम से क्यों उल्लेख किया गया है, इसका उत्तर यह है कि हरिभद्र और सिद्धसेनगणि ने उक्त भाष्य को वृत्ति और भाष्य लिखा है, यह कुछ मेरी कल्पना नहीं। संभव है, तत्त्वार्थसूत्र पर प्रथम विवेचन होने के कारण विद्वान् उमा-स्वातीय भाष्य को स्वाती और वृत्ति दोनों नामों से कहने लगे हों। लेकिन इससे भाष्य और

वृत्ति का अभिप्राय तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अकलंक ने राजवार्तिक (अध्याय, ५ सूत्र १, ४) में वृत्ति और भाष्य को पर्यायवाची माना है, यह कथन मनोनीत होने के कारण अत्यन्त अनर्थकारक है। राजवार्तिककार ने कहा ऐसा प्रतिपादित नहीं किया। उक्त प्रकरण में वृत्ति का अर्थ 'समास' है, सूत्ररचना अथवा 'टीका' आदि नहीं, यह बात पहले सप्रमाण सिद्ध की जा चुकी है। अतः राजवार्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि किसी हालत में नहीं माना जा सकता।

आक्षेप - (ख) राजवार्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य स्वयं अकलंक का राजवार्तिक भाष्य भी हो सकता है, इस भाष्य में षट्द्रव्य का विषय स्पष्टरूप से प्रतिपादित है। अकलंकदेव ने 'भाष्ये' के स्थान पर उक्त प्रसंग पर 'पूर्वत्र' क्यों नहीं लिखा ? तो इसका प्रत्युत्तर है कि अकलंकदेव ने 'इत्वार्थभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्ये' न लिखकर कोरा 'भाष्ये' ही क्यों लिखा ? यदि वहाँ अकलंक केवल 'पूर्वत्र' शब्द ही लिख देते तो कदाचित् उससे उनके भाष्य का तो बोध हो सकता था, परन्तु सर्वार्थसिद्धि भाष्य का बोध नहीं हो सकता था। तथा यदि उन्हें दोनों ही भाष्य अभिप्रेत हों, तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक इन दोनों का निर्वाह 'पूर्वत्र' शब्द से कैसे किया जा सकता था ? अकलंक कर्नाटक के थे जो सौराष्ट्र कच्छ से दूर पड़ता है, अतः उनके सामने तत्त्वार्थभाष्य का रहना सम्भावित नहीं।

उत्तर—पूर्व लेख में कहा गया था कि यदि लेखक जैन अथवा जैनेतर साहित्य में कहीं एक भी ऐसा उदाहरण बता दें जहाँ ग्रन्थकर्ता ने स्वकीय भाष्य, वृत्ति या टीकागत पूर्व अथवा उत्तर कथन को सूचित करने के लिये पूर्वत्र, अग्रे, प्राक् परम् पुरस्तात् आदि शब्दों का प्रयोग न कर, केवल 'भाष्ये', 'वृत्तौ' या 'टीकायां' जैसे पदों का उल्लेख किया हो तो कदाचित् उनकी इष्टसिद्धि हो सकती है, परन्तु ऐसा करने में वे सर्वथा असमर्थ रहे हैं फिर यह कैसे मान लिया जाय कि राजवार्तिकगत 'भाष्ये' पद स्वयं राजवार्तिक भाष्य का द्योतक है। नीचे हम विविध ग्रन्थों के ऐसे उदाहरण उपस्थित करते हैं, जहाँ किसी शंकाविषयक समाधान को सूचित करने के लिये ग्रन्थकार ने स्वकीय ग्रन्थ को 'भाष्ये', 'वृत्तौ' आदि रूप से उल्लिखित न कर पूर्वत्र, उत्तरत्र आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है—

(क) उत्तरत्र च तस्यास्तित्वं वक्ष्यते—राजवार्तिक पृ० २०१ ( यहाँ अणु-सम्बन्धी शंका चल रही है, जिसका समाधान पृ० २३५ पर किया गया है।

(ख) प्रमाणितं च अतयनिद्रव्य आत्मद्रव्यं च प्राक्—न्यायकुमुदचन्द्र ३०७।

(ग) प्रागेव अपास्तम् (वही ३३६)

(घ) प्रपञ्चतस्तु पुनरादिशुद्धिप्रपञ्चस्वरूपम् परमतमेयम्—स्याद्वादरत्नाकर, ५६१।

(ङ) उपरिष्टाद्विशेषयिष्याम —न्यायभाष्य, पृ० ३।

(च) उपरिष्टाद्दर्शितम्—शांकरभाष्य, ७२०।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त उदाहरणों में स्वग्रन्थ-संबंधी वक्तव्य को सूचित करने के लिये कहीं भी 'भाष्ये' 'वृत्तौ' आदि पद का प्रयोग नहीं। तथा यहाँ कहीं भी यह शंका नहीं होती कि अमुक बात सूत्र में, वार्त्तिक में अथवा टीका में है। प्रत्युत यदि ग्रन्थकार स्वकीय ग्रन्थ में 'भाष्ये' आदि नामों का व्यवहार करता है, तो समझना चाहिये कि वह ग्रन्थ उसके स्वकीय ग्रन्थ से भिन्न है। उदाहरण के लिये :

(क) अवदाम स्तुतौ—प्रमाणमीमांसा, पृ० २२।

(ख) प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपचं प्रपंचितम्—न्यायकुमुदचन्द्र, ३२९।

यहाँ स्तुति (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) नामक ग्रन्थ हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा से, तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से भिन्न है। अतएव लेखक ने जो राजवार्त्तिकगत "ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं" आदि पंक्ति का स्वकीय भाष्य करते हुए 'व्याख्यातं' शब्द को भाष्य का बोधक बताकर अपनी इष्टसिद्धि करने का प्रयत्न किया है, वह निरर्थक है। तथा अस्माभिः प्रोक्तं', 'पूर्वत्र प्रोक्तं' आदि शंकराचार्य के वचनों को केवल उनकी अनुस्मृति-सूचक बताना, यह उनके ग्रन्थों के संबंध में अनभिज्ञता द्योतित करता है। ऊपर जो पूर्वत्र आदि शब्दों के उल्लेखपूर्वक उदाहरण उपस्थित किये गये हैं, क्या वे भी ग्रन्थकार की अनुस्मृति की ही सूचना देते हैं? इसके अतिरिक्त, पहले दो लेखों में बताया जा चुका है कि राजवार्त्तिक और सर्वार्थसिद्धि में पटद्रव्यों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, अतःउक्त दोनों ग्रन्थ 'भाष्य' शब्द के वाच्य नहीं हो सकते। राजवार्त्तिक में कालविषयक चर्चा किसी ऐसे भाष्य को लक्ष्य में रखकर उठाई गई है, जहाँ काल की मान्यता के विषय में कुछ मतभेद हो। अतएव राजवार्त्तिक में पटद्रव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन होना प्रतिवादी के लिये ही अनिष्टापत्ति हो सकती है। अकलंक ने उमास्वातीय भाष्य का 'श्वेताम्बरीय भाष्य' या 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' रूप से क्यों उल्लेख नहीं किया? इसका उत्तर है कि इस ग्रंथ का श्वेताम्बरीय भाष्य' कहीं नाम ही नहीं? यह नाम तो आपका दिया हुआ है। इसी तरह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर विद्वानों ने समन्तभद्र आदि दिगम्बर विद्वानों ने समन्तभद्र आदि दिगम्बर विद्वानों के ग्रन्थों का उल्लेख 'दिगम्बरीय आप्तमीमांसा' आदि रूप से न करके केवल 'आप्तमीमांसा' रूप से ही क्यों किया? लेखांक (३) में बताया जा चुका है कि तत्त्वार्थभाष्य केवल 'भाष्य' नाम से भी प्रसिद्ध था और उमास्वाति भाष्यकार नाम से कहे जाते थे। अतएव 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये' न लिखकर अकलंक ने भाष्ये' ही लिखा।

यह बड़ी अद्भुत दलील है कि अकलंक कर्नाटक के थे और भाष्यकार सौराष्ट्रकच्छ[१] के,

---

१ भाष्यकार ने सौराष्ट्र-कच्छ में रहकर तत्त्वार्थभाष्य की रचना की। यह उल्लेख न मालूम लेखक महोदय को कहाँ मिल गया! तत्त्वार्थभाष्य के अन्त में जो प्रशस्ति है उसमें स्पष्ट लिखा है कि कुसुमपुर

अत अकलंक के सामने भाष्य नहीं हो सकता। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि कोई ग्रन्थ कर्नाटक में लिखा गया है तो वह सदा कर्नाटक में ही रहेगा और जो सौराष्ट्र में लिखा गया है वह सौराष्ट्र में ही पड़ा रहेगा। लेखक महोदय को शायद मालूम नहीं कि प्राचीन काल में रेल, डाक आदि का सुभीता न होने पर भी कितनी शीघ्रता से साहित्य का आदान प्रदान होता था। तथा यदि कर्नाटक देशीय अकलंक के समक्ष सौराष्ट्र कच्छदेशीय (?) भाष्यकार के प्रस्तुत भाष्य का रहना प्रमाणित नहीं तो फिर भाष्यकार के समक्ष राजवार्तिक रहने की सम्भावना कैसे हो सकती है जिसमें यह कहा जाता है कि भाष्यकार ने राजवार्तिक के आधार से भाष्य बना डाला। वस्तुत बात यह है कि राजवार्तिक में जिस भाष्य का उल्लेख है, उसका वास्तविक लक्ष्य क्या है, इस विषय में स्वयं लेखक सशंक हैं, इसीलिये कभी वे उसका लक्ष्य सर्वार्थसिद्धि भाष्य बनाते हैं, कभी राजवार्तिक भाष्य का नाम लेते हैं कभी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों को 'भाष्य' का वाच्य कहते हैं, और कभी उनका ध्यान किसी पुरातन अनुपलब्ध दिगम्बर भाष्य की ओर आकृष्ट होता है। लेकिन ये सभी कल्पनायें निर्मूल हैं। समझ में नहीं आता कि 'भाष्ये' इस सप्तम्यन्त एकवचन पद से एक साथ सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक इन दो भाष्यों का बोध कैसे हो जायगा। उक्तार्थ सूचना के लिये 'भाष्ययो' पद का होना जरूरी है। यदि अकलंक को भाष्य' पद से कोई पुराना भाष्य ही अभिप्रेत है, तो उसको सप्रमाण बताना चाहिये, तथा फिर उसकी संगति सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकभाष्य के साथ बैठाकर क्यों समय नष्ट किया जाता है?

(ग) तत्त्वार्थ भाष्यकार के मत से पाँच ही द्रव्य हैं, छ नहीं। यही सूचन करने के लिये सिद्धसेन गणि ने 'वाचकमुख्यस्य तु पञ्चैव' यह वाक्य अपनी टीका में लिखा है। 'सत्र षटत्व षड् द्रव्यावरोधात्' इस तत्त्वार्थ भाष्य वाक्य से भी षट् द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं होती। उक्त वाक्य में जो 'षड्द्रव्यावरोधात्' हेतु दिया है वह जैनेतरवादी की नय संबंधी शंका का निराकरण करने के लिये दिया है। भाष्यकार एकीयमत से काल द्रव्य को मानते हैं और उस एकीयमत मानने का लाभ उन्होंने इस स्थल पर पहले ही ले लिया है। प्रशमरतिगत षट् द्रव्य के उल्लेख से भी तत्त्वार्थ भाष्यकार द्वारा षट् द्रव्य मान्यता सूचक कथन सिद्ध नहीं होता। 'कायग्रहण प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' इस तत्त्वार्थ भाष्य वाक्य में काल द्रव्य का स्पष्ट निषेध ही है।

उत्तर—लेखांक ३ (पृष्ठ १६६—१७०) में सिद्धसेन गणि के 'वाचकमुख्यस्य तु पञ्चैव' वाले उल्लेख की विस्तार चर्चा करते हुए यह सिद्ध कर दिया गया है कि भाष्यकार निर्विवाद

(पाटलिपुत्र) में विहार करते हुए तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र की रचना की गई। सम्पादक—अनेकान्त का भी इस पर कोई नोट नहीं। न मालूम फिर व्यर्थ ही 'पर पदार्थ' करने की चिंता इन लोगों को क्यों सताये रहती है?
—लेखक

रूप से छः द्रव्यों को स्वीकार करते हैं, फिर न मालूम प्रतिपक्षी की युक्तियों का निरसन किये बिना ही अपनी एक ही बात की पुनः पुनः क्यों आवृत्ति की जाती है! उक्त लेख मे विस्तार से दी हुई युक्तियों का सारांश यहाँ फिर से दिया जाता है :—

(अ) 'वर्त्तना परिणामक्रिया' आदि तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य की टीका में सिद्धसेन गणि लिखते हैं—"जब कालद्रव्य धर्मादि मे भिन्न है तो उसे अवश्य उपकारी होना चाहिये। और काल का अस्तित्व माना गया है, तो फिर उसका क्या उपकार है? उसका उपकार है वर्त्तना परिणाम आदि, वर्त्तना इत्यादि काल का अविनाभूत लिंग है। पहले जो सूत्रकार (भाष्यकार) ने उसका कथन नहीं किया, वह केवल अस्तिकाय का प्रतिषेध करने के लिये नहीं किया।"

(आ) 'कालश्चेत्येके' सूत्र की टीका में सिद्धसेन गणि ने स्पष्ट लिखा है—"कालश्च द्रव्यं षष्ठं भवति"। यहाँ काल द्रव्य को पृथक् सिद्ध करने के लिये सिद्धसेन ने आगम का प्रमाण देते हुए काल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि की है। 'कालश्चेत्येके' सूत्र और उसके भाष्य का अर्थ करते हुए सिद्धसेन ने स्पष्ट लिखा है "काल कदाचित किसी के मत धर्मादि पंचास्तिकायों में गर्भित होता है और कदाचित वह धर्मादि के समान स्वतंत्र द्रव्य है।" 'एक नय की अपेक्षा काल अन्य द्रव्यों से भिन्न है (दूसरे नय की अपेक्षा नहीं)। जैन प्रवचन मे किसी एक नय की अपेक्षा समस्त वस्तु-स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता।" 'इत्येके' पद का अर्थ करते हुए सिद्धसेन लिखते है—"इत्येके इत्यमाचक्षतेऽन्ये त्वन्यथेति" अर्थात् कोई लोग काल को अलग मानते हैं कोई नहीं। अतः 'कालश्चेत्येके' सूत्र का यह आशय कदापि नहीं कि उमास्वाति काल को अलग द्रव्य नहीं मानते। उक्त सूत्र की या उसके भाष्य की टीका में सिद्धसेन ने यह कहीं नहीं बताया कि उमास्वाति काल को भिन्न नहीं मानते, अथवा वे उसे जीवाजीव की पर्याय कहते हैं। उक्त सूत्र से उमास्वाति, काल द्रव्य-संबंधी पूर्वाचार्यों के मतभेद को ही व्यक्त करना चाहते हैं और इसी का समर्थन सिद्धसेन गणि ने किया है।

(इ) तीसरे अध्याय की भाष्य-टीका में प्रशमरति को उमास्वातिकृत ग्रन्थ मानकर सिद्धसेन गणि ने प्रशमरति के एक श्लोक को उद्धृत किया है, जिसमें 'जीवाजीवौ द्रव्यमिति षड्विधं' रूप से छह द्रव्यों का कथन है।"

यदि सिद्धसेन के अनुसार उमास्वाति पाँच द्रव्य ही मानते हैं तो फिर उनके पूर्वोक्त सब उल्लेख व्यर्थ पड़ते हैं। अतएव, जैसे लेखांक (२) में बताया गया है, सिद्धसेन के "वाचक-मुख्यस्य तु पंचैव" वाले उल्लेख को भ्रममूलक मानना चाहिये। यह उल्लेख सिद्धसेन का अंतिम उल्लेख भी नहीं। काल-द्रव्य-सम्बन्धी अन्तिम उल्लेखों में तो उन्होंने उमास्वाति के

मत से छह ही द्रव्य स्वीकार किये हैं। प्रशमरति के उद्धृत श्लोक द्वारा सिद्धसेन ने इसी कथन का समर्थन किया है। बिना किसी प्रमाण के प्रशमरति को उमास्वाति कर्तृत्व निषेध करने का कोई अर्थ नहीं, जब कि सिद्धसेन, वादिदेव आदि आचार्यों ने उसे स्पष्ट उमास्वाति की कृति लिखा है। "एतानि द्रव्याणि न हि कदाचित् पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस भाष्य वाक्य में 'पंच द्रव्याणि' का अर्थ 'पंचास्तिकाय' है, यह बात पहले विस्तार से कही जा चुकी है, अतएव यहाँ पुनः नहीं लिखी जाती।

बड़ा आश्चर्य है कि "सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्" इस तरह का तत्त्वार्थ भाष्य में स्पष्ट उल्लेख होने पर भी भाष्यकार के मत से षट्द्रव्यों की मान्यता का क्यों निषेध किया जाता है। यदि भाष्यकार छह द्रव्य नहीं मानते तो फिर 'षड्द्रव्यावरोधात्' यह स्वमान्यताविरुद्ध प्रतिवादी को हेतु उपन्यस्त करने का क्या कारण? तथा जो हेतु प्रतिवादी को दिया जाय, वह वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिये? परन्तु प्रतिवादी तो छह द्रव्यों को स्वीकार करता नहीं, फिर उसे उक्त हेतु देने का क्या अर्थ? इसी प्रकरण में जैसे "सर्वं चतुष्ट्वं? चतुर्दर्शनविषयावरोधात्' वाक्य में प्रतिवादी को जैन परम्परामान्य चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन आदि द्योतक 'चतुर्दर्शनविषयावरोधात्' हेतु मान्य नहीं उसी तरह षड्द्रव्यावरोधात्' हेतु भी उसे मान्य नहीं हो सकता।

"कायग्रहणं प्रदेशावयव" आदि भाष्यपंक्ति का स्पष्टार्थ है कि "अजीवकाया" आदि सूत्र में 'काय' शब्द का ग्रहण प्रदेशबहुत्व बताने के लिये, और काल का प्रतिषेध करने के लिये अर्थात् काल-द्रव्य एकप्रदेशी है अतएव वह काय नहीं यह बताने के लिये किया गया है। यह एक बिलकुल स्थूल बात है कि यदि भाष्यकार काल द्रव्य को मानते ही नहीं तो उन्हें यह चिन्ता क्या होनी चाहिये कि यदि 'अजीवकाया" आदि सूत्र में 'काय' शब्द नहीं रक्खा जायगा तो फिर 'अजीव' कहने में काल का भी ग्रहण हो जायगा, तथा काल द्रव्य अजीव तो है, पर काय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं, अतएव भाष्यकार को उसका यहाँ ग्रहण करना इष्ट नहीं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आगे भी काल ग्रहण उन्हें अनिष्ट है। 'कायग्रहणं' आदि भाष्य पंक्ति का अर्थ यहाँ वही करना चाहिये जो अकलंक ने अपने 'तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं" (पृष्ठ १८८ वार्तिक ८) और 'अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" (पृष्ठ १८९ वार्तिक १६) इन दो वार्तिकों में किया है। जैसे भट्टाकलंकदेव "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" इस वार्तिक से काल का सर्वथा निषेध नहीं करते, उसी तरह तत्त्वार्थ भाष्यकार ने उक्त पंक्ति में भी अपने भाष्य में काल का निषेध नहीं किया है। अतः जिस प्रकार 'षड्द्रव्याणि" इन शब्दों के उल्लेख के बिना भी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में केवल 'षट्' शब्द के अनेक बार उपलब्ध होने पर राजवार्तिकगत बहुत बार षड्द्रव्यों का

उल्लेख' (बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि) माना जाता है, उसी तरह 'षड्द्रव्याणि' इन शब्दों के उल्लेख के बिना भी तत्त्वार्थभाष्य में 'बहुत बार छः द्रव्यों का उल्लेख' मानने में क्या आपत्ति! ऊपर बताया जा चुका है कि भाष्य में किस किस रूप में और किस स्थल पर षड्द्रव्यत्व की मान्यता सूचक स्पष्ट वाक्य आते हैं, जिनका समर्थन सिद्धसेनगणि ने किया है।

## (५) तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्त्तिक में शब्दादिगत साम्य

**आक्षेप**—अकलंकदेव से पूर्व श्वेताम्बर भाष्य के अस्तित्व का अभी तक कोई भी प्रमाण सामने नहीं आया। हरिभद्रसूरि आठवीं-नौवीं शताब्दि के विद्वान् हैं, तथा सिद्धसेन गणि दसवीं-ग्यारहवीं के। अत अकलंक देव के बहुत पीछे के इन विद्वानों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर भाष्य की एक कर्तृता आदि की मान्यतायें कुछ भी कीमत नहीं रखतीं।

**उत्तर**—तत्त्वार्थभाष्य की प्रमाणिकता का सब से प्रबल प्रमाण है भाष्यकार की प्रशस्ति, ग्रन्थ की भाषा तथा हरिभद्र सिद्धसेन, देवगुप्त आदि श्वेताम्बर विद्वानों की उक्त भाष्य पर टीका-टिप्पणियाँ। जब तक उक्त प्रशस्ति को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण न दिये जायँ, तब तक कथनमात्र से भाष्य को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस तरह तो किसी भी ग्रन्थ को अप्रमाण बताया जा सकता है। हरिभद्र का समय आठवीं शताब्दि सुनिश्चित है, फिर भी उन्हें आठवीं-नौवीं सदी का विद्वान् बताना इतिहासानभिज्ञता है। सिद्धसेनगणि को हरिभद्र के दो सौ वर्ष बाद का विद्वान् बताने का अर्थ समझ में नहीं आता। अभी तक तो सिद्धसेन हरिभद्र के लगभग समकालीन माने जाते रहे हैं: अब यदि शास्त्रीजी ने कोई नई खोज की हो, तो मालूम नहीं! उक्त दोनों विद्वानों को अकलंक के बहुत पीछे का बताया गया है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया गया कि वे दो सौ वर्ष पीछे के हैं या चार सौ वर्ष पीछे के। थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय, हरिभद्र और सिद्धसेन अकलंक के बहुत पीछे के हैं, तो इससे क्या हुआ? ऐसी तो कोई व्याप्ति है नहीं कि अकलंक के उत्तरवर्ती जिन विद्वानों ने किसी भाष्य पर टीकायें लिखी हैं, वे सब भाष्य अप्रामाणिक हैं। फिर ऐसा कौन-सा प्रमाण है, जिसके बल पर श्वेताम्बर भाष्य की एक कर्तृता आदि का खंडन किया जा रहा है? शब्दादिगत सादृश्य के आधार से ही माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और धर्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु का प्रभाव माना जाता है। यह कोई बुद्धिमान नहीं कहता कि दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति ने परीक्षामुख के ऊपर से अपने सूत्र बना लिये हैं। फिर यही बात अकलंक और भाष्यकार उमास्वाति के विषय में क्यों न मानी जाय? जैसे यह नहीं माना जाता कि राजवार्त्तिक के आधार से पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि बनाई

है, इसी तरह यह नहीं कह सकते कि राजवार्त्तिक के आधार से भाष्य बनाया गया है। शब्द, चर्चा आदि के सादृश्य के अतिरिक्त भाष्य में जिस बात का संकोच है, राजवार्त्तिक में उसका विस्तार है, फिर कौन ग्रन्थ पूर्ववर्त्ती होना चाहिये और कौन उत्तरवर्त्ती, यह हर बुद्धिमान मनुष्य सरलता से समझ सकता है।

वस्तुतः शास्त्री महोदय हमारी किसी भी युक्ति का खंडन अब तक नहीं कर सके। जगह जगह अपने लेख में उन्होंने केवल अपनी विजय की डंका बजायी है, कहीं शब्दों को तोड़ मरोड़ कर उनका मनोनीत अर्थ करने का प्रयत्न किया है, कहीं प्रतिपक्षी की युक्तियों का खण्डन किये बिना ही अपनी दलीलों की आवृत्ति की है, कहीं बेसिर-पैर की इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी हैं। इस पर भी यदि आप समझते हैं कि आपने तत्त्वार्थभाष्य के एककर्तृत्व की बात को छूमंतर की तरह उड़ा दिया है, तो आप समझते रहिये, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसका निर्णय हम सम्पादक 'अनेकान्त' के ऊपर छोड़ते हैं, जो इस चर्चा को जन्म देकर अब मौन हैं। क्या हम सम्पादकजी से आशा करें कि वे इस विषय पर खोजपूर्ण प्रकाश डाल कर 'स्थितिकरण' का पालन करेंगे।

---

नोट —नियमानुसार इस लेख का अन्तिम प्रूफ मूल कॉपी के साथ लेखक के पास भेजा गया था। परन्तु इस आन्दोलन में उनके गिरफ्तार कर लिये जाने के कारण वह प्रूफ लौटकर नहीं आया। मूल कॉपी के न रहने से संभव है कि इसमें कुछ गलतियाँ रह गई हों, पर यह विवशता की बात है। इस लेख के सम्बन्ध में एक बात और कह देनी है वह यह है कि भविष्य में इसके पक्ष में या विपक्ष में किसी का कोई भी लेख 'भास्कर' में नहीं छपेगा।

—संपादक

ॐ

# विरुदावली

"स्वस्ति श्रीजिननाथाय, स्वस्ति श्रीसिद्धसूरिणे (?) ।
स्वस्ति पाठकसाधुभ्यां, स्वस्ति श्रीगुरवे तथा ॥१॥
मंगलं भगवानर्हन् मंगलं सिद्धसूरयः ।
उपाध्यायस्तथा साधुर्जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥२॥
सद्धर्मामृतवर्षहर्षितजगज्जन्तुर्यथाम्भोधरः ।
स्थैर्यान्मेरुरगाधताब्धिरवनिसारोह्यपारक्षमः ॥
दुर्वारस्मरवारिवाहपवनः शुम्भत्प्रभाभास्करः ।
चन्द्रः सौम्यतया सुरेन्द्रमहितो वीरः श्रियो वः क्रियात् ॥३॥
स्वस्ति श्रीमूलसंघे प्रवरबलगणे कुन्दकुन्दान्वये च ।
विद्यानन्दिप्रबन्धुं विमलगुणयुतं मल्लिभूपं मुनीन्द्रम् ॥
लक्ष्मीचन्द्रं यतीन्द्रं विबुधवरनुतं वीरचन्द्रं स्तुवेऽहम् ।
श्रीमज्ज्ञानादिभूपं सुमतिसुखकरं श्रीप्रभाचन्द्रदेवम् ॥४॥

श्री जिननाथ मंगलमय हों, श्री सिद्ध और सूरि मगलमय हों, उपाध्याय और साधु मगलमय हों और श्री गुरु मगलमय हों ॥१॥ भगवान् अर्हन् मगलमय हों; सिद्ध और आचार्य मगलमय हो, उपाध्याय, साधु तथा जैनधर्म मंगलमय हों ॥२॥ सद्धर्म (जैनधर्म) रूपी अमृत की वृष्टि से जगत् के जीवो को हर्षित करनेवाले, अतएव मेघ के समान, स्थिरता में मेरु पर्वत के समान, अगाधता में समुद्र के समान, संसार के सार का ऊहापोह करके पार जाने में समर्थ, दुर्दमनीय कामदेवरूपी मेघमण्डल के लिए पवनस्वरूप, शुभ्रदीप्ति के कारण सूर्य के समान, सौम्यता के कारण चन्द्रमा के समान और देवताओं के अधिपति इन्द्र द्वारा पूजित (वे भगवान्) वीर आप लोगो का कल्याण करे ॥३॥ मगलमय श्री मूलसंघ में, श्रेष्ठ बलात्कारगण में और कुंदकुंद की शिष्यपरम्परा में विद्यानन्दी के श्रेष्ठ बन्धु, शुभ गुणों से युक्त मल्लिभूषण मुनीन्द्र की, लक्ष्मीचन्द्र यतीन्द्र की, देवताओं से वन्दित वीरचन्द्र की और ज्ञान आदि गुणों से भूषित, सुमति तथा सुख देनेवाले श्री प्रभाचन्द्रदेव की मै स्तुति करता हूँ ॥४॥

स्वस्ति श्रीवीरमहावीरातिवीरसन्मतिवर्द्धमानतीर्थंकरपरमदेवबदनारविन्दविनिर्गत-दिव्यध्वनिप्रकाशनप्रवीणश्रीगौतमस्वामिगणधरान्वयश्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुयोगीन्द्राणां श्रीमूलसंघसंजनितनन्दिसंघप्रकाशबलात्कारगणाग्रणीपूर्वापरशावेदिश्रीमाघनन्दिभट्टारकाणां तत्पट्टकुमुदवनविकाशनचन्द्रायमानसकलसिद्धान्तादिश्रुतसागर-पारगतश्रीजिनचन्द्रमुनीन्द्राणाम् ॥१॥

तत्पट्टोदयाद्रिदिवाकरश्रीएलाचार्यगृध्रपिच्छवज्रग्रीवपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवर्याणाम् ॥२॥

दशाध्यायसमाचित्तजैनागमतत्त्वार्थसूत्रसमूहश्रीमदुमास्वातिदेवानाम् ॥३॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणविचारचातुरीचमत्कारचमत्कृतचतुरनिकर-चतुरशीतिसहस्रप्रमितिबृहदाराधनासारकर्तृ श्रीलोहाचार्याणाम् ॥४॥

अष्टादशवर्णविरचितप्रबोधसारादिग्रन्थश्रीयशःकीर्तिमुनीन्द्राणाम् ॥५॥

कुन्दकुन्दहारतुषारकाशकाशयशोभरभूषितश्रीयशोनन्दीश्वराणाम् ॥६॥

मंगलमय श्री वीर, महावीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के मुखारविन्द से निकली हुई दिव्यवाणी को प्रकाशित करने में निपुण श्री गौतम स्वामी गणधर के शिष्य श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु योगीन्द्र के, श्रीमूलसंघ से उत्पन्न नन्दिसंघ का प्रकाश-स्वरूप बलात्कारगण में अग्रेसर तथा पूर्व एवं अपर अंश को जाननेवाले श्रीमाघनन्दी भट्टारक के और उनके पट्ट-रूपी कुमुद वन को विकासित करनेवाले चन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण सिद्धान्त आदि आगम रूपी समुद्र के पारगत श्री जिनचन्द्र मुनीन्द्र के ॥१॥

उनके पट्ट-रूपी उदयाचल पर उदित सूर्य के समान श्री एलाचार्य, गृध्रपिच्छ वज्रग्रीव, पद्मनन्दी और कुन्दकुन्दाचार्यवरों के ॥२॥

जैनागम के सार को दश अध्यायों में "तत्त्वार्थसूत्र" के रूप में प्रस्तुत करने वाले श्रीमान् उमास्वाति देव के ॥३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सम्यक् तपस्या और विचार चातुर्य के चमत्कार से चतुर लोगों के समूह को चमत्कृत करनेवाले चौरासी हजार श्लोक परिमित 'बृहदाराधनासार' की रचना करनेवाले श्री लोहाचार्य के ॥४॥

अष्टादश वर्णों द्वारा 'प्रबोधसार' आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री यश कीर्त्ति मुनिवर के ॥५॥

इन्दु, कुमुद की माला, तुषार (हिम) और काश नामक तृण के समान स्वच्छ यश पुञ्ज से भूषित श्रीयशोनन्दीश्वर के ॥६॥

जैनेन्द्रमहाव्याकरणश्लोकवार्तिकालङ्कारादि(?)महाग्रन्थकर्तॄणां श्रीपूज्यपाद-देवानाम् ॥७॥

सम्यग्दर्शनगुणगणमण्डितश्रीगुणनन्दिगणीन्द्राणाम् ॥८॥

परवादिपर्वतवज्रायमानश्रीवज्रनन्दियतीश्वराणाम् ॥९॥

सकलगुणगणाभरणभूषितश्रीकुमारनन्दिभट्टारकाणाम् ॥१०॥

निखिलत्रिष्टपकमलवनमार्तण्डतपःश्रीसंजातप्रभादूरीकृतदिगन्धकारसिद्धान्त-पयोधिशशधरमिथ्यात्वतमोविनाशनभास्करपरवादिमतेभकुम्भस्थलविदारणसिंहानां श्रीलोकचन्द्रप्रभाचन्द्रनेमिचन्द्रभानुनन्दिसिंहनन्दियोगीन्द्राणाम् ॥११॥

आचाराङ्गादिमहाशास्त्रप्रवीणताप्रतिबोधितभव्यजननिकरस्याद्वादसमुद्रसमुत्थ-सदुपन्यासकल्लोलाधःपातितसौगत-सांख्य-शैव-वैशेषिक-भाट्ट-चार्वाकादिगजेन्द्राणां श्रीमद्वसुनन्दिवीरनन्दिरत्ननन्दिमाणिक्यनन्दिमेघचन्द्रशान्तिकीर्त्तिमेरुकीर्त्तिमहा-कीर्त्तिविष्णुनन्दिश्रीभूषणशीलचन्द्रश्रीनन्दिदेशभूषणानन्तकीर्त्तिधर्मनन्दिविद्यानन्दि-

जैनेन्द्रमहाव्याकरण और श्लोकवार्तिकालंकार (?) आदि महान् ग्रन्थों के रचयिता श्री पूज्यपाद देव के ॥७॥

सम्यग्दर्शन के गुणराशि से भूषित श्रीगुणनन्दी गणीन्द्र के ॥८॥

परवादी-रूप पर्वत के लिए वज्र के समान श्री वज्रनन्दी यतीन्द्र के ॥९॥

सकल गुणसमूह रूपी आभरणों से अलङ्कृत श्रीकुमारनन्दी भट्टारक के ॥१०॥

सम्पूर्ण संसार-रूप कमलवन को विकासित करने में सूर्य के समान, तपस्या की छवि से उत्पन्न प्रभा द्वारा सभी दिशाओं के अन्धकार को दूर करनेवाले, सिद्धान्त-समुद्र की पुष्टि करने में चन्द्रमास्वरूप, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्यतुल्य, परवादियों के सिद्धान्त-रूपी हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने में सिंह के समान श्री लोकचन्द्र, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनन्दी और सिंहनन्दी योगीन्द्रों के ॥११॥

आचाराग आदि महाशास्त्रों की प्रवीणता द्वारा भव्यजनों को प्रतिबोधित करनेवाले, स्याद्वाद-रूपी समुद्र की उत्ताल तरंग रूपी सद्युक्ति द्वारा सौगत सांख्य-शैव-वैशेषिक-भाट्ट (मीमांसक) और चार्वाक आदि गजेन्द्रों को नीचे गिरानेवाले श्री वसुनन्दी, वीरनन्दी, रत्ननन्दी, माणिक्यनन्दी, मेघचन्द्र, शान्तिकीर्त्ति, मेरुकीर्त्ति, महाकीर्त्ति, विष्णुनन्दी, श्रीभूषण, शीलचन्द्र, श्रीनन्दी, देशभूषण, अनन्तकीर्त्ति, धर्मनन्दी, विद्यानन्दी,

रामचन्द्ररामकीर्तिनिर्भयचन्द्रनागचन्द्रनयनन्दिहरिचन्द्रमहीचन्द्रमाधवचन्द्रलक्ष्मीचन्द्रगुणचन्द्रवासवचन्द्रगणीन्द्राणाम् ॥१२॥

सुरासुरखेचरनरनिकरचर्चितचरणाम्भोरुहाणां श्रुतकीर्तिभानचन्द्रमहाचन्द्रमेघचन्द्रब्रह्मनन्दिशिवनन्दिविश्वचन्द्रस्वामिभट्टारकाणाम् ॥१३॥

दुर्धरतपश्चरणवज्राग्निदग्धदुष्टकर्मकाष्ठानां श्रीहरिनन्दिभावनन्दिस्वरकीर्तिविद्याचन्द्ररामचन्द्रमाघनन्दिज्ञाननन्दिगङ्गकीर्तिसिंहकीर्तिहेमकीर्तिचारुकीर्तिनेमिनन्दि-नाभिकीर्तिनरेन्द्रकीर्तिश्रीचन्द्रपद्मकीर्तिपूज्यभट्टारकाणाम् ॥१४॥

सकलतार्किकचूडामणिसमस्तशाब्दिकसरोजराजितरणिनिखिलागमनिपुणश्रीमदकलङ्कचन्द्रदेवानाम् ॥१५॥

ललितलावण्यलीलाललितगात्रत्रैविद्याविलासविनोदितत्रिभुवनोदरस्थविबुध-कदम्बचन्द्रकरनिकरसन्निभयशोभरसुधारसधवलितदिग्मण्डलानां श्रीललितकीर्ति-केशवचन्द्रचारुकीर्त्यभयकीर्तिसूरिवर्याणाम् ॥१६॥

रामचंद्र, रामकीर्ति, निर्भयचंद्र, नागचंद्र, नयनंदी, हरिचंद्र, महीचंद्र, माधवचंद्र, लक्ष्मीचंद्र, गुणचंद्र, वासवचंद्र और लोकचंद्र गणीन्द्रों के ॥१२॥

देवता, दानव, खेचर और मनुष्यों द्वारा पूजित चरणकमल वाले श्रुतकीर्ति, भावचंद्र, महाचंद्र, मेघचंद्र, ब्रह्मनंदी, शिवनंदी और विश्वचंद्र स्वामी भट्टारकों के ॥१३॥

अत्यंत कठिन तपस्या रूपी वज्राग्नि द्वारा बुरे कर्मरूपी काष्ठ को जला चुकनेवाले हरिनंदी, भावनंदी, स्वरकीर्ति, विद्याचंद्र, रामचंद्र, माघनंदी, ज्ञाननंदी, गंगकीर्ति, सिंहकीर्ति, हेमकीर्ति, चारुकीर्ति, नेमिनंदी, नाभिकीर्ति, नरेन्द्रकीर्ति, श्रीचंद्र और पद्मकीर्ति पूज्य भट्टारकों के ॥१४॥

सभी तार्किकों के शिरोभूषण, समस्त वैयाकरण रूपी कमलों के लिए सूर्य और सम्पूर्ण आगम में निपुण श्रीअकलङ्कचन्द्रदेव के ॥१५॥

मञ्जुल लावण्यपूर्ण शरीरवाले, तीनों विद्याओं के विलास से त्रिभुवन के विद्वानों को आनन्दित करनेवाले और चंद्रकिरणों के समान स्वच्छ यश पुञ्ज रूपी सुधारस से दिशाओं को समुज्ज्वल करनेवाले श्री ललितकीर्ति, केशवचन्द्र, चारुकीर्ति और अभयकीर्ति आचार्यवरों के ॥१६॥

जाग्रज्जिनेन्द्रसिद्धान्तसमशत्रुमित्रप्रेयोरसाकुलितसिंहगजादिसेव्यानां श्रीवसन्तकीर्त्तिश्रीवादिचन्द्रविशालकीर्त्तिशुभकीर्तियतिराजानाम् ॥१७॥

राजाधिराजगुणगणविराजमानश्रीहम्मीरभूपालपूजितपादपद्मसैद्धान्तिकसंयमसमुद्रचन्द्रश्रीधर्मचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥१८॥

तत्पदाम्बुजभानुस्याद्वादवादिवादीश्वरश्रीरत्नकीर्तिपुण्यमूर्तीनाम् ॥१९॥

महावादवादीश्वरवादिपितामहप्रमेयकमलमार्तण्डाद्यनेकग्रन्थविधायकश्रीमहापुराणस्वयम्भूसप्त(?)भक्तिपरमात्मप्रकाशसमयसारादिसूत्रव्याख्यानसर्ज्जनसंजातकोविदसभाकीर्त्तिभट्टारकाणां श्रीमत्प्रभाचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२०॥

अनेकाध्यात्मशास्त्रसरोजपण्डविकासनमार्तण्डमण्डलयथाख्यातचारित्रसुविधानसन्तोपिताखण्डलानां श्रीपद्मनन्दिदेवभट्टारकाणाम् ॥२१॥

त्रैविद्यविद्वज्जनशिखण्डमण्डलीभवत्कायधर(?)कमलयुगलावंतीदेशप्रतिष्ठोपदेशकसप्तशत - कुटुम्ब - रत्नाकर - ज्ञातिसुश्रावकस्थापकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिशुभकीर्तिभट्टारकाणाम् ॥२२॥

श्री जिनेन्द्र के सिद्धातों को जाग्रत करनेवाले, शत्रु, मित्र और उदासीन सब को प्रीतिरस से वशीभूत करनेवाले एवं सिंह, हाथी आदि से सेव्य श्री वसंतकीर्त्ति, श्रीवादिचंद्र, विशालकीर्त्ति और शुभकीर्त्ति यतिवरो के ॥१७॥

राजाओ के राजा और सभी गुणों से अलकृत श्री हम्मीर राजा द्वारा पूजित चरणकमलवाले और सिद्धात-सवधी सयमरूपी समुद्र को संवृद्ध करनेवाले चद्रमा के समान श्रीधर्मचद्र भट्टारक के ॥१८॥

उनके पदाब्जो को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्यस्वरूप, स्याद्वाद के वादियो के लिए वादीश्वर पुण्यमूर्त्ति श्री रत्नकीर्त्ति के ॥१९॥

महावाद-वादीश्वर, वादि-पितामह, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थोके रचयिता, श्री-महापुराण, स्वयम्भू सप्त(?)भक्ति, परमात्मप्रकाश और समयसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की व्याख्या करनेवाले परम शास्त्रज्ञ सभाकीर्त्ति भट्टारक (?) और श्री प्रभाचन्द्र भट्टारक के ॥२०॥

अनेक अध्यात्मशास्त्र रूपी कमलसमूह को विकासित करनेवाले सूर्य-स्वरूप, यथाख्यात चारित्र्य के विधान द्वारा देवेन्द्र को प्रसन्न करनेवाले श्री पद्मनदिदेव भट्टारक के ॥२१॥

तीनो विद्याओं के ज्ञाताओ मे शिरोभूषण-स्वरूप, मण्डलाकार परिवेष्टित संसारियों द्वारा सेवित युगल (चरण) कमलवाले (?) अवन्तीदेश की (मूर्त्ति) प्रतिष्ठा में उपदेश देने वाले सात सौ परिवार-रूपी समुद्र के अन्तर्गत ज्ञाति-सुश्रावको के उद्धारक श्री देवेंद्रकीर्त्ति और शुभकीर्त्ति भट्टारकों के ॥२२॥

तत्पट्टोदयसूर्याचार्यवर्यनवविधब्रह्मचर्यपवित्रचर्यामन्दिरराजाधिराजमहामण्डलेश्वरवज्रागगगजयसिंहव्याघ्रनरेन्द्रादिपूजितपादपद्मानां अष्टशाखाप्राग्वाटवंशावतमानां षड्भाषाकविचक्रवर्त्तिभुवनतलव्याप्तविशदकीर्तिविश्वविद्याप्रासादसूत्रधारसद्ब्रह्मचारिशिष्यवरसूरिश्रीश्रुतसागरसेवितचरणसरोजानां श्रीजिनयात्राप्रतिष्ठाप्रासादोद्धरणोपदेशनैकदेशभव्यजीवप्रतिबोधकानां श्रीसम्मेदगिरिचम्पापुरीउज्जयन्तगिरिअक्षयवटआदीश्वरदीक्षासर्वसिद्धक्षेत्रकृतयात्राणां श्रीसहस्रकूटजिनबिम्बोपदेशकहरिराजकुलोद्योतकराणां श्रीरविनन्दिपरमाराध्यस्वामिभट्टारकाणाम् ॥२३॥

तत्पट्टोदयाचलबालभास्करप्रवरपरवादिगजयूथकेसरिमण्डपगिरिमन्त्रवादसमस्याप्तचन्द्रपुनिकूटवादिगोपदुर्गमेधाकर्षणभविकजनसस्यामृतवर्षणसुरेन्द्रनागेन्द्रादिसेवितचरणारविन्दानां मालवमुलतानमगधमहाराष्ट्रगौडगुर्जराङ्गवङ्गतिलङ्गादिविविधदेशोत्थभव्यजनप्रतिबोधनपटुवसुन्धराचार्यग्यासदीनसभामध्यप्राप्तसम्मानश्रीपद्मावत्युपासकानां श्रीमल्लिभूषणभट्टारकवर्याणाम् ॥२४॥

उनके पट्ट पर उदित सूर्य के समान, आचार्य प्रवर, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य द्वारा चारित्र-रूपी मंदिर को पवित्र करनेवाले, राजाधिराज महामण्डलेश्वर—वज्राग, गग और जयसिंह इन श्रेष्ठ राजाओं द्वारा पूजित चरण कमलवाले, अष्टशाखा प्राग्वाट् वश में उत्पन्न, छः भाषाओं में कवि-सम्राट्, पृथ्वीतल पर विस्तृत स्वच्छ कीर्तिवाले अखिल विद्याओं के प्रासाद के सूत्रधार, पूर्ण ब्रह्मचारी शिष्य-श्रेष्ठ सूरी श्री श्रुतसागर जी द्वारा सेवित चरण-कमल वाले, श्री जिनयात्रा, प्रतिष्ठा और मंदिरोद्धार के उपदेशों द्वारा मुख्य मुख्य देशों के भव्य जीवों को उद्बोधित करनेवाले, श्री सम्मेदगिरि, चम्पापुरी, उज्जयतगिरि, आदीश्वरदीक्षास्थान अक्षयवट, और सभी सिद्धक्षेत्रों की यात्रा करनेवाले, श्री सहस्रकूट जिनबिम्बोपदेशक एव हरि वश को उद्भासित करनेवाले श्री रविनंदी नामक परम आराध्य स्वामी भट्टारक के ॥२३॥

उनकी पट्ट (गद्दी) रूपी उदयाचल पर उगनेवाले प्रात कालिक सूर्य के समान, अत्यत श्रेष्ठ, अन्यमतवादी रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह-स्वरूप, मडपगिरि (माडलगढ़) के मत्रवाद समस्या में चद्रमा की पवित्रता प्राप्त करनेवाले, विकट परवादी रूप गोपों के (अजेय) दुर्ग को अपनी प्रखर बुद्धि से वश में करनेवाले भव्यजनरूपी फसल पर अमृत समान वाणी की वर्षा करनेवाले, देवेन्द्र और नागेन्द्र से सेवित चरणकमल वाले, मालव-मुलतान-मगध-महाराष्ट्र सौराष्ट्र-गौड अग-वग आध्र आदि विविध देशों के भव्यजनों को उपदेश देने में निपुण, भूमडल भर के आचार्य, ग्यासुद्दीन की सभा में सम्मान प्राप्त करनेवाले और श्री पद्मावती देवी के उपासक श्रीमल्लिभूषण महाभट्टारक के ॥२४॥

तत्पट्टकुमदवनविकासनशरत्सम्पूर्णचन्द्रानां जैनेन्द्रकौमारपाणिन्यमरशाकटायन-मुग्धबोधादिमहाव्याकरणपरिज्ञानजलप्रवाहप्रक्षालितानेकशिष्यप्रशिष्यशेमुखीसंस्थित-शब्दाज्ञानजम्बालानामनेकतपश्चरणकरणसमुत्थकीर्त्तिकलापकलितरूपलावण्यसौभा-ग्यभाग्यमण्डितसकलशास्त्रपठनपाठनपण्डितविविधजीर्णनूतनस्फुटितप्रासादविधाय-कश्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रविम्बप्रतिष्ठादिमहामहोत्सवकारकाणां तिंगल(?)तौलवतिलंगकन्न-ड (?) कर्णाटलाटमोटादिदेशोत्पन्ननरेन्द्रराजाधिराजमहाराजराजराजेश्वरमहामण्ड-लेश्वरभैरवरायमल्लिरायदेवरायवंगरायप्रमुखाष्टादशनरपतिपूजितचरणकमलश्रुतसागर-पारंगतवादवादीश्वरराजगुरुवसुन्धराचार्यभट्टारकपदप्राप्तश्रीवीरसेनश्रीविशालकीर्ति-प्रमुखशिष्यवरसमाराधितपादपद्मानां श्रीमल्लक्ष्मीचन्द्रपरमभट्टारकगुरूणाम् ॥२५॥

तद्वंशमण्डनकन्दर्प्पसर्प्पदर्प्पदलनविश्वलोकहृदयरञ्जनमहाव्रतिपुरन्दराणां नव-सहस्रप्रमुखदेशाधिराजाधिराजमहाराजश्रीअर्जुनजीयराजसभामध्यप्राप्त सम्मानानां षोडशवर्षपर्यंतशाकपाकपक्वान्नशाल्योदनादिपर्प्पिःप्रभृतिसरसाहारपरिवर्जितानां

उनके पट्ट रूपी कुमुदवन को विकासित करने के लिए शरद् ऋतु के पूर्ण चंद्रमा के समान, जैनेन्द्र, कौमार, पाणिनि, अमर, शाकटायन, मुग्धबोध आदि महाव्याकरण के परिज्ञान रूपी जल-प्रवाह से अनेक शिष्य-प्रशिष्यों की बुद्धि में स्थित शब्द-संबंधी अज्ञान रूपी पंक को धो देनेवाले, विविध तपस्याओं के द्वारा प्रसारित यश समूह वाले और रूपलावण्य से भूषित तथा सौभाग्य से मंडित, सभी शास्त्रों के पठन-पाठन में पंडित, अनेक पुराने तथा नये फूटे-टूटे मन्दिरों के उद्धारक श्री जिनेन्द्र की प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि बड़े-बड़े उत्सवों के करनेवाले, तौलव-आन्ध्र-कर्णाट-लाट-भोट आदि देशों के नरेन्द्र-राजाधिराज-महाराज-राजराजेश्वर-महामण्डलेश्वर भैरवराय-मल्लिराय-देवराय बंगराय इत्यादि अट्ठारह राजाओं से पूजित चरणकमलवाले, शास्त्ररूपी सागर के पारंगत, वादियों के ईश्वर, राजाओं के गुरु, भूमंडल के आचार्य, भट्टारक पद को प्राप्त श्री वीरसेन, श्री विशालकीर्त्ति प्रभृति शिष्यों द्वारा आराधित चरणकमल वाले श्री लक्ष्मीचंद्र परम भट्टारक गुरु के ॥२५॥

उनके वंश के भूषण, कामदेव रूपी सर्प के गर्व को चूर करने वाले, अखिल लोक के हृदय को आनन्दित करने वाले, महाव्रतिश्रेष्ठ, नव सहस्र प्रधान देशों के अधिपतियों के अधिपति महाराज श्री अर्जुन राज की सभा में सम्मान पाने वाले, सोलह वर्ष तक शाक-पाक, पक्वान्न, शाली का भात और घी आदि रसयुक्त आहार को छोड़ने वाले,

दुश्चारादिमनंगर्वपर्वतचूर्णीकरणवज्रायमानप्रथमवचनखण्डनपण्डितानां व्याकरण-प्रमेयकमलमार्तण्डछन्दोलंकृतिसारसाहित्यसंगीतसकलतर्कसिद्धान्तागमशास्त्रसमुद्र-पारगतानां सकलमूलोत्तरगुणमणिमण्डितविबुधवरश्रीवीरचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२६॥

तत्पट्टोदयाद्रिदिनमणिनिखिलविपश्चिच्चक्रचूडामणिसकलभव्यजनहृदयकुमुदवनविकासनरजनीजानिपरमजैनस्याद्वादनिष्णातशुद्धसम्यक्त्वजनजातगताभिमानि-मिथ्यावादिमिथ्यावचनमहीधरशृंगशातनप्रचण्डविद्युद्दण्डानां संस्कृताद्यष्टमहा-भाषाजलधरकरणछटामन्तर्पितभव्यलोकसारंगाणां चतुरशीतिवादविराजमानप्रमेय-कमलमार्तण्डन्यायकुमुदचन्द्रोदयराजवार्तिकालंकारश्लोकवार्तिकालंकाराप्तपरीक्षापरी-क्षामुखपत्रपरीक्षाष्टसाहस्रीप्रमेयरत्नमालादिस्वमतप्रमाणशशधरमणिकण्ठकिरणा-वलीवरदराजीचिन्तामणिप्रमुखपरमतप्रकरणैन्द्रचान्द्रमाहेन्द्रजैनेन्द्रकाशकृत्स्नकाला-पकमहाभाष्यादिशब्दागमगोम्मटसारत्रैलोक्यसारलब्धिसारक्षपणसारजम्बूद्वीपादिपंच-प्रज्ञप्तिप्रभृतिपरमागमप्रवीणानामनेकदेशनरनाथनरपतितुरगपतिगजपतियवनाधीश-

दुश्चारादि(?) के सम्पूर्ण गर्वरूपी पर्वत को चूर्ण करने में वज्र के सदृश, प्रथम-वचन का खडन करने में पडित, व्याकरण प्रमेयकमलमार्तण्ड-छद अलकार-सार-साहित्य-सगीत-सम्पूर्ण-तर्क सिद्धात और आगमशास्त्र रूपी समुद्र के पारगत सम्पूर्ण मूलोत्तर गुण रूपी मणियों से भूषित, विद्वानों में श्रेष्ठ श्री वीरचद्र भट्टारक के ॥२६॥

उनके पट्ट (गद्दी) रूपी उदयाचल पर उदित सूर्य के समान, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली के चूडामणि, सभी भव्यजनों के हृदय रूपी कुमुद वन को विकसित करने के लिए रजनीपति, परम जैन, स्याद्वाद में निष्णात, शुद्ध, सम्यक्त्व को प्राप्त जात और मृत(?) अभिमानी मिथ्यावादियों के मिथ्या-वचन रूपी महीधरों (पर्वत) के शृङ्ग को तोड़ने में प्रचड विद्युत्-दण्ड के सदृश, सस्कृत आदि आठ महाभाषा रूपी जलधरहेतुक छटाद्वारा भव्य जन रूपी मयूरादि पक्षियों को तृप्त करनेवाले, चौरासी वादियों में विराजमान, प्रमेय-कमलमार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्रोदय राजवार्तिकालकार-श्लोकवार्तिकालकार आप्तपरीक्षा परीक्षामुख-पत्रपरीक्षा अष्टसाहस्री प्रमेयरत्नमाला आदि अपने मत के प्रमाण रूपी चन्द्रमणि को कण्ठ में धारण करनेवाले, किरणावली-वरदराजी चिंतामणि प्रभृति परमत में, ऐन्द्र, चान्द्र, माहेन्द्र, जैनेन्द्र काशकृत्स्न, कालापक और महाभाष्यादि शब्द-शास्त्र में गोम्मटसार, त्रैलोक्यसार, लब्धिसार, क्षपणासार और जम्बूद्वीपादि पचप्रज्ञप्ति-प्रभृति परम आगमशास्त्रों में प्रवीण, अनेक देशों के नरनाथ, नरपति, अश्वपति, गजपति और यवन अधिपतियों की

सभासम्प्राप्तसम्मानश्रीनेमिनाथतीर्थंकरकल्याणपवित्रश्रीउज्जयन्तशत्रुंजयतुंगीगिरि-चूलगिर्य्यादिसिद्धक्षेत्रयात्रापवित्रीकृतचरणानामंगवादिभंगशीलकलिंगवादिकर्पूरका-लानलकाश्मीरवादिकदलीकृपाणनेपालवादिशापानुग्रहसमर्थगुर्जरवादिदत्तदण्डगौड-वादिगण्डभेरुण्डदत्तदण्डहम्मीरवादिब्रह्मराक्षसचोलवादिहल्लकल्लोलकोलाहलद्राविड-वादित्राटनशीलतिलंगवादिकलंककारिदुस्तरवादिमस्तकशूलकोंकणवादिवगोत्थान-मूलव्याकरणवादिसर्दितमरट्टतार्किकवादिगोधूमघरट्टसाहित्यवादिसमाजसिंहज्योतिष्क-वादिभूर्णा(?)तलिहमन्त्रवादियन्त्रगोत्रतन्त्रवादिकलप्रकुचकुम्भनिचोल(?)रत्नवादियत्न-कारसमस्तानवद्यविविधविद्याप्रासादसूत्रधाराणां सकलसिद्धान्तवेदिनिर्ग्रन्थाचार्य-वर्यशिष्यश्रीसुमतिकीर्तिस्वपरदेशविख्यातशुभमूर्तिश्रीरत्नभूषणप्रमुखसूरिपाठकसाधु-संसेवितचरणसरोजानां कलिकालगौतमगणधराणां श्रीमूलसंघसरस्वतीगच्छशृङ्गार-

सभाओं में सम्मान प्राप्त करने वाले श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के कल्याण से पवित्र किये हुए, श्री ऊज्जयंत, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, चूलगिरि आदि सिद्धक्षेत्र की यात्रा से अपने चरणों को पवित्र किये हुए, अगदेश के वादियों को भग्न करनेवाले, कलिंग देश के वादी रूपी कपूर के लिए भयंकर अग्नि के समान, काश्मीर के वादी रूपी कदली के लिए तलवार के समान, नेपाल के वादियों को शाप और अनुग्रह करने की शक्ति रखने वाले, गुजरात के वादिओं को दण्ड देने वाले, गौड (वंगाल का हिस्सा) के वादी रूपी गंड भेरुण्ड पक्षी को दण्ड देनेवाले हम्मीर (राजा) के वादियो के लिए ब्रह्मराक्षस के सदृश, चोल के वादियो में महान् कोलाहल मचाने वाले, द्राविड वादियों को त्राटन देनेवाले, तिलङ्ग के वादिओं कोलाङ्घित करने वाले, दुस्तर (कठिन) वादिओं के लिए मस्तकशूल रोग के समान, कोकण देश के वादिओं के लिए उत्कट वातमूल रोग के समान, व्याकरण शास्त्र के वादिओं को चकनाचूर करने वाले, तर्क शास्त्र के वादिओं को गेहूँ का आटा बनाने वाले, साहित्य के वादि-समाज लिए सिंह सदृश, ज्योतिष के वादियों को भूमिसात् करने वाले, मंत्रवादियों को यत्र (कोल्हू) में डालने वाले, तत्र वादियो की छाती विदीर्ण करने वाले, रत्नवादिओं का यत्न करने वाले, सम्पूर्ण निर्दोष विविध विद्या रूपी प्रासाद (भवन) के सूत्रधार सभी सिद्धातों को जानने वाले, जैनाचार्यप्रवर, शिष्य श्री सुमतिकीर्त्ति, अपने और दूसरे देशों में प्रसिद्ध शुभमूर्त्ति श्रीरत्नभूषण प्रभृति सूरि, पाठक और साधुओ से सेवित चरण कमल वाले तथा कलिकाल के लिए गौतम गणधर-स्वरूप, श्रीमूलसंघ-सरस्वतीगच्छ के शृङ्गारहार-सदृश,

द्वाराणां गच्छाधिराजभट्टारकवरेण्यपरमाराध्यपरमपूज्यभट्टारकश्रीज्ञानभूषणगुरूणाम् ॥२७॥

तत्पट्टकुमुदवनविकासनविशदसम्पूर्णपूर्णिमासारशरच्चन्द्रायमानानां कविगमकवादिवाग्मिकचतुर्विधविद्वज्जनसभासरोजिनीराजहंसमनिमानां सारसामुद्रिकशास्त्रोक्तसकललक्षणलक्षितगात्राणां सकलमूलोत्तरगुणगणमणिमण्डितानां चतुर्विधश्रीसंघहृदयाह्लादकराणां सौजन्यादिगुणरत्नरत्नाकराणां सनाटकभागधुरंधराणां श्रीमद्रायराजगुरुवसुन्धराचार्यमहावादिपितामहसकलविद्वज्जनचक्रवर्तिवकुडीकुडीयाण (?)-परगृहविक्रमादित्यमध्याह्नकल्पवृक्षबलात्कारगणविरुदावलीविराजमानडिल्लीगुर्जरादिदेशसिंहासनाधीश्वराणां श्रीसरस्वतीगच्छश्रीबलात्कारगणाग्रगण्यपाषाणघटितसरस्वतीवादनश्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वयभट्टारकश्रीविद्यानन्दिश्रीमल्लिभूषणश्रीमल्लक्ष्मीचन्द्रश्रीवीरचन्द्रसाम्प्रतिकविद्यमानविजयराज्ये श्रीज्ञानभूषणसरोजचञ्चरीकश्रीप्रभाचन्द्रगुरूणाम् ॥२८॥

तत्पट्टकमलनालभास्करपरवादिगजकुम्भस्थलविदारणसिंहस्वदेशपरदेशप्रसिद्ध-

गच्छाधिराज, भट्टारकों में श्रेष्ठ, परम आराध्य और परम पूज्य भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरुवर के ॥२७॥

उनके पट्ट-रूपी कुमुदवन को विकसित करने के लिए स्वच्छ शरद् कालीन पूर्णिमा के चन्द्र के समान, कवि-गमक वादी वाग्मिक इन चारों प्रकार के विद्वानों की सभा रूपी सरोजिनी में राजहंस के सदृश, सामुद्रिक शास्त्र में कथित सभी शुभ लक्षणों से युक्त शरीर वाले, सम्पूर्ण मूलोत्तर गुण-मणियों से अलङ्कृत, चारों प्रकार के संघों के हृदयाह्लादक, सौजन्य आदि गुण रत्नों के सागर, सनाटक के भार की धुरी को धारण करने वाले, श्रीमान् राव (?) के राजगुरु, भूमण्डल के आचार्य, महावादियों के पितामह, अखिल विद्वज्जनों के चक्रवर्ती, (वकुडी कुडीयाण ?) परगृह के लिए विक्रमादित्य, मध्याह्न के लिए कल्पवृक्ष, बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान, दिल्ली गौर्जर (गुजर) आदि देशों के सिंहासनाधीश्वर, श्री मूलसंघ श्रीसरस्वतीगच्छ-श्रीबलात्कारगण में अग्रगण्य, पत्थर की बनी सरस्वती को बुलवाने वाले, श्री कुन्दकुन्दाचार्य के वंश में भट्टारक श्री विद्यानंदी, श्री मल्लिभूषण, श्री लक्ष्मीचंद्र और श्री वीरचंद्र के सम्प्रति विद्यमान विजयराज्य में श्रीज्ञानभूषण रूपी सरोज के लिए चञ्चरीक भट्टारक श्री प्रभाचंद्र गुरु के ॥२८॥

उनके पट्ट रूपी कमल के लिए बालसूर्य, परमतवादी रूपी गज के मस्तक को विदीर्ण

नामपंचमिथ्यात्वगिरिशृङ्गशातनप्रचण्डविद्युद्दण्डानां जंगमकल्पद्रुमकलिकालगौतमावताररूपलावण्यसौभाग्यभाग्यमण्डितनिजवचनकलाकौशल्यविस्मापिताखण्डलमहावादवादीश्वरराजगुरुवसुन्धराचार्यहुंवडकुलशृङ्गारहारभट्टारकश्रीमद्वादिचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२९॥

तत्पट्टैकसम्पूर्णचन्द्रस्वराद्धान्तविद्योत्कटपरवादिगजेन्द्रगर्वस्फोटनप्रबलेन्द्रमृगेन्द्राणां कृत्स्नाद्वयशब्दश्रुतछन्दोलंकृतिकाव्यतर्कादिपठनपाठनसामर्थ्यप्रोत्थकीर्त्तिवल्ल्याच्छादितवंगांगतिलंगगुर्जरनवमहस्रदक्षिणवागवरादिदेशमण्डपानां महावादीश्वरश्रीमन्मूलसंघशृंगारहारश्रीमद्वादिचन्द्रपट्टोदयाद्रिबालदिवाकराणां त्रिजगज्जनाह्लादनप्रकृष्टप्रज्ञाप्रागल्भ्याभिनववादीन्द्रसकलमहत्तममहतीमहीमहतामहस्क(?)-महन्महीपतिमहितश्रीमहीचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥३०॥

तत्पट्टोदयाद्रिबालविभाकरविद्वज्जनसभामण्डनमिथ्यामतखण्डनपण्डितानाम् परवादिप्रचण्डपर्वतपाटनपवीश्वराणां भव्यजनकुमुदवनविकाशनशशधरधर्म्मामृत-

करने में सिंह के समान, स्वदेश और परदेश मे ख्याति प्राप्त, पंच मिथ्यात्व-स्वरूप पर्वत के शिखर को नष्ट भ्रष्ट करने में प्रचंड बिजली के समान, चलते-फिरते कल्पवृक्ष-स्वरूप, कलिकाल में गौतमावतार रूप, लावण्य और सौभाग्य से युक्त, अपने वचन की चातुरी से इन्द्र को विस्मय में डालने वाले, महावाद-वादीश्वर, राजगुरु, भूमण्डल के आचार्य, हुंवड कुल के शृङ्गारहार, भट्टारक श्री वादिचन्द्र के ॥२९॥

उनके पट्ट को (सुशोभित करने के लिए) एकमात्र पूर्णचन्द्र, अपने सिद्धान्त की विद्या में उत्कट, परमतवादी-रूपी गजेन्द्र के गर्व को फोड़नेवाले प्रबल मृगेन्द्र सदृश, अखिल अद्वय (अद्वैत) शब्द को सुने हुए, छंद-अलकार-काव्य-तर्क आदि के पठन-पाठन की सामर्थ्य रखने के कारण फैली हुई कीर्त्तिलता से वंग-अंग-तैलग-गुर्जर-नवसहस्र दक्षिण वागवर आदि देश-रूपी मडप को आच्छादित करनेवाले,(?) महावादीश्वर, श्रीमूलसघ के शृंगारहार, श्रीवादिचंद के पट्ट-रूपी उदयाचल पर बालसूर्य के समान, त्रिभुवन के जनो को आह्लादित करनेवाले, प्रखर बुद्धि और निपुणता के कारण एक नवीन वादिश्रेष्ठ, सम्पूर्ण पृथ्वी के बडे से बडे भूभाग के महान् महीपतियो से पूजित श्रीमहीचन्द्र भट्टारक के ॥३०॥

उनके पट्ट-स्वरूप उदयगिरि पर (उदित) बालभास्कर, विद्वानों की सभा के भूषण, मिथ्यामत के खण्डन में पण्डित, परमत के वादी-रूपी प्रचण्ड पर्वत को तोडने में श्रेष्ठ वज्र के समान, भव्य जन-रूपी कुमुद वन को विकसित करने के लिए चन्द्रमा, धर्मस्वरूप अमृत

वर्षणमेघाना लघुशाखाहुम्बडकुलशृंगारहारदिल्लीगुर्जरसिंहासनाधीशबलात्कारगण विरुदावलीविराजमानभट्टारकश्रीमेरुचन्द्रगुरूणाम् ॥३१॥

सकलसिद्धान्तप्रतिबोधितभव्यजनहृदयकमलविकाशनैकबालभास्कराणा दश-विधधर्मोपदेशनवचनामृतवर्षणतर्पितानेकभव्यसमूहाना श्रीमन्मेरुचन्द्रपट्टोद्धरण-धीराणा श्रीमच्छ्रीमूलसंघसरस्वतिगच्छबलात्कारगणविरुदावलीविराजमानभट्टारक वरेण्यभट्टारकश्रीजिनचन्द्रगुरूणा तपोराज्याभ्युदयार्थं भव्यजनैः क्रियमाणे श्रीजिननाथाभिषेके सर्वे जना सावधाना भवन्तु ॥३२॥

को बरसाने में मेघतुल्य, लघु शाखा के हुंबड़ कुल के शृंगारहार, दिल्ली और गुजरात के सिंहासनाधीश, बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान भट्टारक श्रीमेरुचन्द्र गुरु के ॥३१॥

सम्पूर्ण सिद्धांतों द्वारा ज्ञानवान् बनाये गये भव्यजनों के हृदय-कमल को विकासित करने में एकमात्र बालसूर्य, दशविध धर्मों के उपदेश वचनामृत की वृष्टि से अनेक भव्यसमूह को तृप्त करनेवाले, श्रीमेरुचन्द्र के पट्ट का उद्धार करने में धीर, श्री मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान, भट्टारकों में श्रेष्ठ, भट्टारक श्री जिनचन्द्र गुरु के तपोराज्य के अभ्युदय के लिए भव्यजनों द्वारा किये जानेवाले श्रीजिननाथ के अभिषेक में सभी लोग सावधान होवें ॥३२॥

यह गुर्वावली समाप्त हुई ।*

---

* श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जी जैन द्वारा प्रेषित ।

अनुवादक—पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ ।

# समीक्षा

षट्खण्डागम—'धवला' टीका और उसके हिन्दी-भाषानुवाद-सहित (प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' का 'क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम' नामक चतुर्थ अंश)। मूल रचयिता—भगवान् पुष्पदन्त, भूतबलि; धवलाटीकाकार—वीरसेनाचार्य; सम्पादक—प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम० ए०, एल्-एल्० बी०, संस्कृताध्यापक किंग एडवर्ड कॉलेज, अमरावती; सहसम्पादक—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक—श्रीयुत सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक-फण्ड कार्यालय, अमरावती (बरार); वीरनिर्वाण-संवत् २४६८; पुस्तकाकार का मूल्य १०); शास्त्राकार का मूल्य १२)।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणित का खुलासा ज्ञान कराने के लिये उपयोगी २० चित्र दिये गये हैं, जिनसे लोक आदि के गणित का ज्ञान आसानी से हो सकता है। इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में लिखी गई है। अंग्रेजी प्रस्तावना लखनऊ विश्वविद्यालय के गणिताध्यापक डा० अवधेशनारायण सिंह की है। आपने इसमें धवला में आये हुए गणितशास्त्र का विशद विवेचन किया है तथा यह भी सिद्ध किया है कि हिन्दू गणितज्ञ, आर्यभट्ट से भी पूर्व जैनियों का गणितशास्त्र उच्च कोटि का था। जैनाचार्य रेखागणित, बीजगणित और अङ्कगणित से भली-भाँति परिचित थे। आपने संख्यात, असंख्यात और अनन्त के प्रतिपादक गणित का विवेचन वासना (उपपत्ति)-पूर्वक किया है। इसके अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद, चतुर्थच्छेद आदि गणित की वासना का विवेचन गणितज्ञों के लिये विशेष मनोरञ्जक है। हिन्दी-भूमिका में 'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार' इस विषय को अनेक ग्रन्थों से प्रमाण देकर स्पष्ट किया है तथा अन्त में यह सिद्ध किया है कि षट्खण्डागम को अध्ययन करने का गृहस्थ को अधिकार है। आगे ग्रन्थ के विषय का ज्ञान कराने के लिये संक्षेप में क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम और कालानुगम का वर्णन किया है। इस भाग में गणित-सम्बन्धी कई नवीन बातों का कथन किया है।

अनुवाद करने में ग्रन्थ के मूल गणित-सूत्रों के केवल अर्थ और उदाहरण ही दिये गये हैं। यदि इन्हीं सूत्रों की उपपत्ति (वासना) भी दी जाती, तो यह विषय सिर्फ सिद्धान्त जाननेवालों के लिये ही उपयोगी सिद्ध नहीं होता, बल्कि गणितज्ञों के लिये भी लाभदायक हो जाता तथा इससे जैन-गणित का और भी अधिक गौरव प्रकट होता।

पृष्ठ ४२ पर दिया गया परिधि ज्ञात करने का करणसूत्र अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और यह आधुनिक प्राप्त सभी करणसूत्रों से भिन्न है। पृ० १५२ पर चन्द्रसंख्या, सूर्यसंख्या,

महसंख्या, नक्षत्रसंख्या और तारा-संख्या का विषय भी गणित जाननेवालों के लिये मनोरञ्जक है। धवलाकार ने गणित में काफी श्रम किया है। जिन गणित नियमों को आधुनिक वैज्ञानिक भी स्थूलता से सिद्ध कर पाये हैं, उन गणित नियमों को जैनाचार्यों ने अति प्राचीन काल में भी अपने सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा सिद्ध कर लिया था। पृ० १९१ पर दिये गये लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र और पुष्करवरसमुद्र आदि की बाह्य और अभ्यन्तर सूची लानेवाले गणित सूत्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। गणित की दृष्टि से इनकी उपपत्ति त्रिकोण मिति से सिद्ध हो सकती है। पृ० ३१८ पर दिन के १५ मुहूर्तों के नाम निम्न प्रकार बताये हैं

(१) रौद्र (२) श्वेत (३) मैत्र (४) सारभट (५) दैत्य (६) वैरोचन (७) वैश्वदेव (८) अभिजित (९) रोहण (१०) बल (११) विजय (१२) नैऋत्य (१३) वारुण (१४) अर्यमन् (१५) भाग्य। रात्रि मुहूर्तों का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है—

(१) सावित्र (२) धुर्य (३) दात्रक (४) यम (५) वायु (६) हुताशन (७) भानु (८) वैजयन्त (९) सिद्धार्थ (१०) सिद्धसेन (११) विक्षोभ (१२) योग्य (१३) पुष्पदन्त (१४) सुगन्धर्व (१५) अरुण।

इस प्रकार से दिन और रात्रि के पन्द्रह पन्द्रह मुहूर्त्त निश्चित किये हैं। अन्य ज्योतिष-ग्रंथों में भी दिन रात्रि के पन्द्रह पन्द्रह मुहूर्त्त पाये जाते हैं। परन्तु इन मुहूर्त्तों के नाम अन्यत्र आये हुए ज्योतिष ग्रन्थों के नामों से सर्वथा भिन्न हैं। तिथियों के नाम तथा उनके स्वामियों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में निम्न प्रकार से किया है, नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा इस प्रकार ये पाँच तिथियाँ बताई गई हैं। इनके देवता क्रम से चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आकाश और धर्म होते हैं। इस उल्लेख में तिथियों के नाम तो अन्य जगह आये हुए ही हैं, परन्तु उनके देवताओं के नाम हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों में आये हुए देवताओं के नामों से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार से इस प्राचीन ग्रन्थ में अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश है। अनुवाद अच्छा हुआ है। ग्रन्थ उपयोगी है, सब किसी को मन्दिर और शास्त्र भाण्डारों के लिये मँगाकर जैनसाहित्य का उद्धार करने में सहायक होना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन, न्याय ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री।

[ २ ]

**कन्नड नाडिन कथेगलु**—लेखक श्रीनारायण शर्मा, प्रकाशक कर्नाटक इतिहास संशोधक मण्डल, धारवाड़, मूल्य सामान्य प्रति का ।॥), विशिष्ट प्रति का १), सन् १९४०, मुद्रण आदि चित्ताकर्षक।

इस संग्रह में शर्माजी ने कर्णाटक के चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले ५५ शब्द चित्रों को ऐतिहासिक आधार पर ललित भाव एवं सरल शैली में सुंदर ढंग से चित्रित करने का सफल

प्रयास किया है। इन कथाओं से विद्यार्थियो को कर्णाटक के राजकीय, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा कला-कौशल-सम्बन्धी परिज्ञान आसानी से हो सकता है। साथ ही साथ इनके अध्ययन से बालकों के कोमल हृदय मे कर्णाटक-संस्कृति का अभिमान भी जाग उठेगा। इस साहित्यिक सेवा के लिये शर्माजी वास्तव मे धन्यवाद के पात्र हैं। ऐतिहासिक प्रस्तावना में कर्णाटक मे शासन करनेवाले प्रायः सभी राजवंशों का संक्षिप्त परिचय देकर इन्होंने कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, यादव, विजयनगर, पालेयगार, बहमनी, कोड़गु, मैसूरु इन राजवंशों के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों एवं कर्णाटक की लक्ष्मम्म, सोमलादेवी, चेन्नम्म, ओबव्व आदि वीराङ्गनाओ की साहस-पूर्ण कथाओ को चित्ताकर्षक शैली मे चित्रित किया है। इसमे रामानुजाचार्य, बसवेश्वर, पुरन्दरदास, कनकदास, विद्यारण्य आदि कर्णाटक के सुप्रसिद्ध धार्मिक महापुरुषों को जीवनियाँ भी सम्मिलित की गई है। प्रस्तुत संग्रह मे महाकवि पंप, वीर चामुण्डराय, सल, सोमलादेवी आदि कतिपय जैन वीर-वीराङ्गनाओं की जीवनियाँ भी गर्भित है। पुस्तक उपयोगी है, इस विषय मे किसीका मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, कतिपय काल-निर्णयो पर अवश्य मतभेद हो सकता है। साथ-ही-साथ इस कार्य के लिये अपनाये गये आधार ग्रंथो मे सभी ग्रन्थ प्रामाणिक नही है। अतः इसे शुद्ध ऐतिहासिक कहना ठीक नही होगा। फिर भी ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य आदरणीय है। एक परिशिष्ट के अतिरिक्त तीन ऐतिहासिक नक्शा और उन्नीस सुन्दर चित्र भी इसमे दिये गये है। इन चित्रों मे श्रीबाहुबली, महाकवि पप आदि का चित्र भी शामिल है। इस उपयोगी पुस्तक को प्रकाशित करनेवाला कर्णाटक इतिहास-संशोधक-मण्डल, धारवाड़ भी विशेष धन्यवाद का पात्र है।

—के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

[ ३ ]

चित्रसेनपद्मावतीचरित्रम्—रचयिता—श्री बुद्धिविजय, संपादक और प्रकाशक—श्रीमूलराज जैन, एम०ए०, एल्-एल्-बी०, जैन विद्याभवन, कृष्णनगर, लाहौर; मूल्य १।); छपाई-सफाई बढ़िया।

इस ग्रन्थ की आलोचनात्मक भूमिका सम्पादक ने अंग्रेजी मे स्वयं लिखी है। इन तीस पृष्ठो मे सभी आलोच्य विषय बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित हुए हैं। प्रस्तावना के अन्तिम पृष्ठो मे अनुसन्धानात्मक और व्याकरण-सम्बन्धी विवरण विद्वत्तापूर्ण है। सन्मान, सन्मानिता, सन्मुख आदि शब्दो को एक साधारण शुद्धि-पत्र मे देकर काम चल सकता था, पर पूरे-पूरे अंग्रेजी के वाक्यों द्वारा ये शुद्ध किये गये है। फिर भी कुछ अशुद्धियों का संकलन नही हो पाया है और न कोई सकेत ही किया गया है। ४६वें श्लोक मे 'शुश्राव' छप गया है।

८५ वें श्लोक में 'त्रिमोहित' पद का उपसर्ग व्यर्थ ही छन्दोभग दोष ला रहा है। ग्रंथकार ने कथा के सिलसिले में कई संस्कृत और प्राकृत पद्य ऐसे रक्खे हैं जो अन्यकर्तृक हैं। ग्रन्थकार ने तो प्रासंगिकता लाकर सुन्दरता से खपाया है, पर संपादक का कर्त्तव्य था कि कुछ संकेत करते। अस्तु, संपादन बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना नहीं है। अन्य कथाओं की तरह इस कथा में भी कुछ ऐसी विलक्षण बातें जोड़ी गई हैं, जो कि प्राचीन कथाकारों का एक ढंग था। लोकरुचि की रक्षा के लिये पुत्र पर राजा का नाराज होना, चित्रसेन का गृहत्याग, मन्त्रि पुत्र की निःस्वार्थ मैत्री आदि बातें इस ग्रन्थ में उच्च और बेजोड़ हैं। काव्य आनुबोध होने से प्रसादपूर्ण है। पुस्तकालयों में ग्रन्थ अवश्य रखने के योग्य है।

सम्पादक के परिश्रम के ख्याल से तो नहीं, पर आकार प्रकार के लिहाज से ग्रन्थ का मूल्य अधिक है।

—कमलाकान्त उपाध्याय
व्याकरण-साहित्य वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ।



# जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा, का संक्षिप्त वार्षिक विवरण

( १३-५-४१—१८-६-४२ )

वीर-संवत् २४६७ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर संवत् २४६८ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ६००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर हुए हैं। प्रमाद अथवा अज्ञानता-वश हस्ताक्षर नहीं करनेवाले सज्जनों की संख्या भी इससे कम नहीं है।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं :

श्रीयुत पं० बनवारीलाल शास्त्री, देहली; श्रीयुत बाबू बैजनाथ जैन एडवोकेट, पटना, श्रीयुत डा० दासरणाचार्य हिन्दू-विश्व-विद्यालय, बनारस, श्रीयुत बाबू पद्मराज जैन, मंत्री हिन्दू महासभा, कलकत्ता, श्रीयुत बाबू गोपालकृष्ण महाजन एम० ए०, संयुक्तमंत्री, मन्नूलाल पुस्तकालय, गया; श्रीयुत बाबू ब्रजभूषण शरण एडवोकेट, मथुरा. श्रीयुत सेठ गोपीचन्द ठोलिया, जयपुर; श्रीयुत बाबू एम० वी० महाजन, एडवोकेट, अकोला; श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, बनारस तथा संपादक 'जैन-सन्देश' मथुरा, श्रीयुत प्रोफेसर खुशालचन्द शास्त्री, एम० ए०, साहित्याचार्य, विद्यापीठ, काशी; श्रीयुत बाबू शान्तिमय बन्धोपाध्याय, एम० ए०, एल० टी०, मिर्जापुर। इन विद्वानों ने अपना बहुमूल्य शुभ सम्मतियों के द्वारा भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रहादि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

सर्वसाधारण को भवन से पुस्तकें घर ले जाने को नहीं मिलती हैं, अत: स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके सिवा विशेष नियम से कुछ खास-खास व्यक्तियों को घर ले जाने को जो पुस्तकें दी गई हैं, उनकी संख्या २८२ है। इन पुस्तकों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त मद्रास, मङ्गलूरु, सोलापुर, काशी, मथुरा, मोरेना, बड़ौदा आदि स्थानों के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

इस साल मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं कन्नड आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं की चुनी हुई ३२५ तथा अंग्रेजी की ३०, कुल ३५५, पुस्तकें भवन में संगृहीत हुई हैं।

पुस्तक भेंट देनेवालों में श्रीमती पं० सितारासुन्दरी देवी, काव्यतीर्था, आरा; गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेरी, मैसूरु; आर्किओलाजिकल मैसूरु, विश्वविद्यालय मैसूरु, श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, मंत्री कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, श्रीयुत पं० बनवारी लाल

शास्त्री, देहली, श्रीयुत खुशालचन्द कोठरजी, फलटन, श्रीयुत प० कमलाकान्त उपाध्याय, आरा, श्रीयुत उग्रसेन, एम० ए०, मथुरा, मंत्री जैनमित्र मण्डल, देहली, श्रीयुत प० मुक्तिनाथ मिश्र, आरा, श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जैन, अमरावती, विश्वविद्यालय मद्रास, श्रीयुत प० मक्खन लाल शास्त्री मोरेना के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रकाशन विभाग में 'जैन सिद्धान्त भास्कर', प्रशस्ति संग्रह आदि का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा है। बल्कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है। बड़े बड़े अजैन विद्वान् भी इसे बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसके लिये निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र पत्रिकाओं का परिवर्तन में आना ही एक ज्वलन्त उदाहरण है

अंग्रेजी के (1) The Indian Culture, (2) The Indian Historical Quarterly, (3) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (4) The Journal of the University of Bombay (5) The Karnatak Historical Review (6) The Adyar Library Bulletin (7) The Journal of the Annamalai University (8) The Poona Orientalist, (9) The Journal of the United Provinces Historical Society, (10) The Quarterly Journal of Mythic Society (11) The Punjab Oriental Reasearch Quarterly Journal, (12) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, (13) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bombay (14) The Fergusson College Magazine (15) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society (16) The Journal of the Benares Hindu University (17) The Andhra University Colleges Magazine and Chronicle, (18) The Journal of the Sri Venkateswara Oriental Journal of the Sind Historical Society (19) The Journal of the Tanjore Institute, (20) The Sarasvathi Mahal Library, (21) The Jaina Gazette

हिन्दी के (१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (२) भारतीय विद्या, (३) प्राचीन भारत (४) साहित्य-सन्देश (५) अनेकान्त, (६) साहित्य सम्मेलन-पत्रिका, (७) किशोर, (८) वैद्य, (९) धर्मदूत (१०) जैन महिलादर्श, (११) दिगम्बर जैन, (१२) धानकेसरी, (१३) जैन प्रचारक (१४) जैन बोधक, (१५) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, (१६) वीर, (१७) भारतीय समाचार (१८) जैन सन्देश, (१९) जैन मित्र (२०) जैन गजट।

संस्कृत के (१) मैसूरुमहाराजसंस्कृतमहापाठशालापत्रिका, (२) सूर्योदय।

कन्नड के: (१) कन्नड साहित्य-परिषत्पत्रिका, (२) प्रबुद्ध कर्नाटक (३) साहित्य समिति पत्रिके (४) जय कर्नाटक (५) अध्यात्मप्रकाश (६) शरण साहित्य (७) विवेकाभ्युदय (८) वीरवाणि (९) सुदर्शन।

तेलगु का: (१) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

गुजराती का: (१) सुवास।

इनके अतिरिक्त भवन मे (१) विशालभारत, (२) सरस्वती (३) राष्ट्रवाणी भी मूल्य से मँगाई जाती हैं।

ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी
वीर संवत् २४६८।

मंत्री:
जैन-सिद्धान्त-भवन



# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ९—वि० सं० १९९९, वीर० सं० २४६९

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल-एल बी

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए, डी लिट्

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस

पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण

—•—

जैन सिद्धान्त भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४२

## विषय-सूची

| | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १ | उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख—[श्री बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० | ५२ |
| २ | उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख—[श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस० | ७६ |
| ३ | केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय ज्योतिष तीर्थ, ज्योतिष शास्त्री | ८१ |
| ४ | गुजराती भाषा में दिगम्बर साहित्य—[श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा | ३९ |
| ५ | जैन सिद्धान्त भवन और तत्सम्बन्धी कार्यप्रणाली का दर्शन—[श्री बाबू पद्मराज जैन | २९ |
| ६ | जैनधर्म का महत्त्व—[श्रीयुत प्रो० देवराज, एम० ए० डी० फिल० | ७२ |
| ७ | तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)—[श्री प्रो० जगदीशचन्द्र जैन एम० ए० | ४४ |
| ८ | तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक—[श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए० | ९७ |
| ९ | पार्श्वेदेवकृत 'संगीतसमयसार'—[श्रीयुत डा० आ० नारायण मोरेश्वर खरे | ८४ |
| १० | मन्दिरों एवं मूर्त्तियों की उत्पत्ति—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण | ६५ |
| ११ | "मोक्षमार्गस्य नेतारम्"—[श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी | ९ |
| १२ | राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष की जैनदीक्षा—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एल एल० बी० | १ |
| १३ | निघण्टु—[अनु० श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण साहित्य वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ | १०८ |
| १४ | वैदिक एवं जैनधर्म में समानरूप से या कुछ हेरफेर से पाये जानेवाले कतिपय पद्य —[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण | ९६ |
| १५ | शाकटायन और उनका शब्दानुशासन—[श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी | १८ |
| १६ | श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्रीयुत बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० | ३५ |
| १७ | श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० | ९१ |
| १८ | सर्वार्थसिद्धि के शक्यवचनादि शब्द—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण | ३४ |
| १९ | हमारा आयुर्वेद—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण | १४ |

# THE JAINA ANTIQUARY

VOL VIII DECEMBER 1942 No II

*Edited by*

Prof Hiralal Jain M A LLB
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR INDIA

*Annual Subscription*

Inland Rs 3, Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

## CONTENTS.



Baladeva serving as an attendant in a Neminatha Image
Guptā Period, J 89 Lucknow Museum



Om

# JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

Vol VIII No II | ARRAH (INDIA) | December 1942

## A FRAGMENTARY SCULPTURE OF NEMINĀTHA IN THE LUCKNOW MUSEUM

*By*
Dr Vasudeva S Agrawala M A Ph D Curator Lucknow Museum

The Provincial Museum Lucknow has a large number of sculptures unearthed from the Kankali Tila Mathura in 1890 93 A majority of them is to be assigned to the Kushāna and Gupta periods There was at the site of Kankali Tila an ancient Jaina *Vihāra* and a *Stūpa* which in an inscription found from the place is described as the *Devanirmita Stūpa* (Ep Ind II 20) A history of this Stūpa is contained in the ancient work entitled '*Vividha Tīrthakalpa*' by Jina Prabha Sūri Recently Dr Handiqui informed me that a legendry account of this Stūpa is also contained in the Yaśastilaka Champū of Somadeva Sūri written in the tenth century On page 315 of the Second Volume of this book (published in the Kavyamālā Series, Bombay, 1903) it is stated that the Stūpa at Mathura was designated as *Devanirmita* and was adorned by images of the Arhats —

मथुरायां चनचरण परिभूमय्य अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् ।
अतएव अद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते ।*

*I owe this reference to the kindness of Dr R. K. Handiqui of Jorhat College, Assam.

This literary testimony is of great value as confirming an ancient tradition recorded on stone regarding the name of the great Jaina establishment at the site of Kankali Tila The sculptures in themselves are the earliest specimens of Jaina iconic art and have special value as throwing light on the beginnings of Jaina iconography in North India. We have amongst them inscribed images of Tirthamkaras and their attendant beings as well as of subsidiary gods and goddesses of the Jaina pantheon. For example, the images of Sarasvati, Naigameśa and Āryavatī are of very great importance for a history of early Jaina religious worship. The last sculpture mentioning Āryavatī in the inscription on it appears to represent the royal lady Triśalā with her attendants holding *chhatra* and *chamara*, both being emblems of royalty Āryavatī appears to be but an honorific name and no independent goddess so styled seems to be intended

The images of Tīrthamkaras reveal several points of interest Firstly the distinctive marks by which the Jaina Tīrthamkaras are distinguished from one another in later times are conspicuous by their absence in the Kushāna and Gupta periods. Therefore, the cognizance marks ( *lañchhanas* ) seem to have emerged as regular iconographic features during the post-Gupta period Secondly, the early sculptors in the absence of special marks distinguished one Tīrthamkara from another by engraving the saint's name on the pedestal This device was inevitable in view of the cult of each Tīrthamkara claiming its own devotees who wished to immortalize their piety by dedicating images of that particular Tīrthamkara who was the object of their veneration. Thus a pious lay woman who calls herself wife of Suchila ( an old contracted form for Sanskrit Śuchidatta or Śuchirakshita ) dedicated an image of Śāntinātha. Similarly Jayā, devoted to the female desciple of Ārya Balatrāta, mother of a prosperous family. donated a colossal image of Vardhamāna Mitraśrī established an image of the Tīrthamkara Arishtanemi, and the female lay worshipper Dattā ( an abbreviated name form of Devadatta ) dedicated an image of the Arhat Nāndyāvarta ( *i e.* Aranātha, the eighteenth Tīrthamkara ) in the Stūpa called *Devanirmita,* ( Ep Ind., II. 204 ). A full detailed study of all the Tīrthamkara images is needed to present as complete a picture as

possible of the religious affiliations of the Jaina church and the lay community settled at Mathura during the early centuries of the Christian era

In the Tirthamkara images there is, however some evidence pointing to the early conception of distinctive marks in respect of a few Jaina pontiffs For example, we find that some images are characterized by a conopy of snakehoods and on this account they were usually understood by the worshippers as representing Supārśva or the twenty third Tirthamkara Parsvanātha Similarly on some images we find locks of hair falling on both shoulders a mark to distinguish the saint as Arhat Rishabhanāth, the bull, his symbol in later Jaina iconography, being absent

Of greater interest still is a class of images in which the Tirthamkara is sought to be distinguished by means of his attendants These represent the Tirthamkara Neminātha whose attendants may at once be recogonized as Baladeva and Vāsudeva who are in Brahmanical books more popularly known as Balarāma and Krishna According to the *Kalpasūtra* Bāladeva and Vāsudeva were the brothers of the twenty second Tirthamkara' Neminātha The Harivaṁsa dynasty to which they all belonged is said to have come into existence in the time of the tenth Tirthaṁkara Śitalanātha A clear example of such images is that illustrated on plate 98 of the *Jaina Stūpa of Mathurā* by V A. Smith, found from the Kankali Tila and now deposited in the Lucknow Museum Besides the four armed images of Balarāma and Krishna, there is also carved on it the subsidiary figure of Yakshini Ambikā on lion definitely marking the Tirthamkara as Neminātha This sculpture should be ascribed to the early medieval period on the basis of its style. I have already described it in greater detail in a previous article published in this Journal* Another image which is stylistically to be ascribed to the early Gupta period (No 2502 Mathura Museum) shows Neminātha with his two divine attendants treated in a more unsophisticated manner and keeping nearer to the canons of early Brahmanical

*Some Brahmanical Deity in Jaina Religious Art. *Jaina Antiquary* Vol III pages 83 92

iconography The Yakshinī Ambikā was originally absent from Neminātha images and seems to have been invoked for purposes of iconography as an afterthought in the early mediaeval period. The two attendant figures of Kṛishna and Balarāma were considered signs enough for the identity of the Tīrthaṁkara intended to be shown.

There is another fragmentary sculpture of red sandstone from the Kankali Tila (J. 89 in the Lucknow Museum) which is of special interest in respect of the iconographic features of one of the attendant figures viz Balarāma. The existing fragment consists of the upper right portion of a Tīrthaṁkara image which represented Neminātha. The main figure is lost except for a portion of the halo which is of the full-blown lotus variety familiar to us in other Gupta sculptures. The attendant four-armed figure of Balarāma has a hooded canopy of serpent hoods on the head, a club or *musala* in upper right hand and the lower right hand is shown as usual raised above the head. The lower left hand is held akimbo and the other hand partly broken, is placed on the surviving symbol which it grasped and which imparts to the sculpture an unusual interest. The symbol consists of a lion surmounting a standard. In the usual course we should have expected a plough as the symbol in this hand of Balarāma The lion is an exceptional feature substituted for the plough A plough is called *lāngala* in Sanskrit literature and there is not yet sufficient evidence to say why a plough was substituted by a lion We have in the Mahabharata a technical term *Simha-lāngūla dhvajāgra* to designate a banner with a lion. It is said in the Dronaparvan where the banners of the leading warriors are described that Aśvatthāmā had a standard with a *siṁha lāngūla* as its ensign :—

तथैव सिंहलांगूलं द्रोणपुत्रस्य भारत ।

ध्वजाग्रं समपश्याम बालसूर्यसमप्रभम् ॥ द्रोण० १०५।१०

This is repeated in the Bhishmaparvan 17· 21),

अश्वत्थामा ययौ यत्त· सिंहलांगूलकेतुना ।

The banner of Arjuna bore the figures of a monkey with a grotesque face and the hind part of a tailed lion (सिंहलांगूलमुग्रास्यं ध्वज वानरलक्षणम् ।

Dronaparvan, 105 8) In another Balarāma sculpture of the early Kushāna period now preserved in the Bharat Kala Bhawan Benares the lion standard also occurs in place of the plough But in the image of Balarāma from village Junsuti near Govardhana in Mathura District now preserved in the Lucknow Museum Balarāma holds in his two arms the *musala* and the *hala* respectively This image is to be placed in the Śuṅga period about the second century B C, and is on that account the earliest Brahmanical image of this deity known so far* It appears, therefore, that the introduction of the lion capital standard in place of the original plough (*langala*) took place somewhere about the first century A D In another image now preserved in the Mathura Museum (No C 19) and dateable in the Kushāṇa period the feature of the lion standard also occurs In the descriptions of Balarāma I have not yet come across any literary reference describing this particular feature of a lion standard or सिंहलांगूलध्वजाग्र as we may call it. The artist who was fashioning the above image of Neminātha for a Jaina patron of his in the Gupta period seems to have incorporated the *simha dhwajagra* feature from a current and a well understood formula of Balarāma iconography prevailing during the Kushāna and Gupta periods A reference from Jaina literature regarding this particular feature will therefore be very welcome

---

* For an illustration and account of this image see Journal of Indian Socy of Oriental Art, Vol V p. 126

to fulfil her prayer whenever she would make it. She wanted Rāma's exile and Bharata's installation to throne of Ayōdhyā as the boon, when Daśaratha was about to make Rāma king and the poor king had to consent to it.

Then, as regards the marriage of Rāma with Sītā, the Jaina account is widely different from Vālmīki's. It is not the sage Visvāmitra who took Rāma to the hermitage for the purpose of killing Tārakā We do not also find the story of Rāma's breaking the mighty bow of the Lord Śiva to win the hands of Sītā The Jaina account says that Antarangala, the half-civilised Mlechchha ( non-Aryan ) king of Mayuramala attacked the kingdom of Janaka with a great army Janaka was frightened and sought the aid of his friend, king Daśaratha, who sent his sons Rāma and Lakshmaña to drive away the non-Aryan hordes. The two brothers signally defeated Antarangala who fled away King Janaka out of gratitude proposed to marry his daughter Sītā to Rāma and Daśaratha agreed to it The sage, Nārada, however, heard of the far famed beauty of Sītā and wanted to see her. He entered the room where Sītā was looking at her face in a mirror. On the mirror, the ugly face of the sage, covered with long hairs and beards was suddenly reflected, which frightened the princess so much that she began to run away with a scream. Nārada was following her when he was stopped by a palaceguard. The sage felt insulted and resolved to create troubles for Sītā. He went to Bhāmandala who did not know that Sītā was really his sister and showed to him a portrait of the princess. Bhāmandala at once got enamoured of her and became eager for marrying her. King Chandragati, his father, came to know this and he had an interview with Janaka. Chandragati requested Janaka to give his daughter in marriage to Bhāmandala, but Janaka openly praised the powers of Rāma and expressed his decision already made, to marry Sīta to Rāma. Thereupon, Chandragati said that he had with him two mighty bows, known as Bajrāvarta and Sāgarāvarta and that they should be raised and used by Rāma and Lakshmaña before he would acknowledge the power of the two princes and allow Sītā to be married to Rāma. Janaka had two bows brought to Mithilā and invited Rāma and Lakshmaña along

with the other princes of the day A *Swayamvara* was arranged and Janaka proclaimed that the prince who would be able to raise the bows would win the hands of Sitā None of the princes dared to approach any of the bows for they were found to emit horrid flames It was Rāma who lifted up Bajrāvarta quite easily so did Lakshmaña Sāgarāvarta Sitā threw the bridal garland around the neck of Rāma

About the role of Jatāyu bird as a protector of the exiled princes and Sitā, we came across a different story in the Jaina version It is said that while in the Dandaka forest Rāma was one day waiting for getting a hungry sage who might oblige him by breaking his fast with the meals to be offered to him, as luck would have it two such sages, Gupti and Sugupti who had been fasting for a whole month were passing that way and they finding Rāma to be really a good and honest man, gladly ate the meals offered by him A vulture was sitting on a tree near by suddenly however he came to realise that it was a rare opportunity to have such great sages and he fell down at their feet respectfully At once the wings of the bird began to glitter as if they were made of gold The sages, after finishing their meals took pity on the bird and explained to him the rules of a morally disposed house holder s life From that day the bird began to lead a strictly abstemious life The sage told him to live near Rāma and Lakshmaña The bird agreed and was there after called Jatāyu by Rāma

The incidents connected with the stealing of Sitā by Rāvaña are slightly different from those stated in Vālmiki s Rāmāyaña According to the Jaina account Lakshmaña one day perceived fragrant smell, coming from some unknown quarter On enquiry, he discovered that it was coming from a beautiful sword Surya hāsya (Sun s laugh) To test the sharpness of the sword, Lakshmaña struck it on a cluster of bamboos near by The bamboo clump was cut and lo! one Sambooka who was within it practising penances for the purpose of getting the sword was killed outright. This Sambooka was the son of Khara Dushana who had married Chandra nakhā sister of king Rāvaña of Lankā Chandra nakhā used to come every day to her penancing son and feed him

At the gruesome sight, her grief was boundless and she began to search for her son's slayers. But when she saw Rāma and Lakshmaña, she became enamoured of them. She represented herself before them as a virgin and requested them to marry her. The brothers, of course, scoffed at her offer. In rage, she went to to her husband and told him all about her son's cruel murder. Khara-Dūshaña went out to fight and sent information to king Rāvaña to come and help him.

Thus in the Jaina account, Khara and Dūshaña are said to be one man and he is the husband of Rāvaña's sister The story of Sambooka is curious In Vālmīki's Rāmāyaña, there is no such account. It is, of course, well known that there is a story about one Śūdra sage Sambooka's practising severest penances, who was killed by Rāma, after he became king of Ayōdhyā, on the ground that such penances were forbidden to a Sūdra The present day writers look upon the slaughter of Śambooka as a great blot on Rāma's character It need scarcely be said that the Jaina account of the killing of Śambooka exonerates Rāma fully from the guilt,—not only because it was not he but Lakshmaña who killed Śambooka, but also because the slaying was purely accidental

As we have indicated above, according to the Jaina account, it was not Sūrpa-nakhā who induced her brother to take away Sītā Rāvaña was coming to aid Khara-Dūshaña and it is said that he saw Sītā in the cottage from his air-chariot. He was struck at her beauty and decided to steal her. According to the Jainas, it was Lakshmaña who went to fight with Khara-Dūshaña Rāma was at home Rāvaña imitated the voice of Lakshmaña from the direction of the battle-field and Rāma, thinking that his brother was in danger, hastened to help him. Rāvaña took away Sitā in the meanwhile,—thus without the help of a Mārīcha, as according to Vālmīki!

Virādha was a monster, killed by the brothers, Rāma and Lakshmaña, according to Vālmīki. In the Jaina account, we come across one Virādhita, ruler of the kingdom of Pātāla-Lankā, who helped Lakshmaña in his fight with Khara-Dūshaña and who took the

broken hearted brothers to his city after the abduction of Sītā We pass by the story

On coming to the next great point in the Rāma story viz. the rescue of Sitā,—several remarkable differences between Vālmīki s and Jaina accounts arrest our attention The first of these is that the Vānaras of Kishkindhyā were according to the Jainas of the same race with and fast friends of the people of Lankā In fact king Sugrīva is described as a relative of Rāvaṇa and the high souled Hanumān, is the son in law of Khara Dūshṇa. Rāvaṇa and the Rakshasas are not man eating monsters but are followers of the Jaina faith Yet, it was with the help of these Vānaras that Rāma recovered Sītā

A somewhat different story is told in the Jaina Purāna about Sugrīva s plight Bāli was no doubt his brother but he was a pious Jaina practising penances near by Kailāsa It was not Bāli who drove away Sugrīva and appropriated his wife The Jaina Purāṇa says that one Sāhasa-gati with the help of the black art assumed the likeness of Sugrīva and approached Sugrīva s wife when Sugrīva was away Every one in the palace took Sāhasa gati as the real king —so that when the real Sugrīva came he was instantly repudiated Sugrīva was now helped by the brothers, Rāma and Lakshmaṇa who killed Sāhasa gati Poor Sugrīva thus got back his kingdom and his wife This Jaina account acquits Bālī on the one hand, of the shameful charge of living with his brother s wife and Rāma, on the other of the charge of improperly killing Bāli who had done no harm to him

In the Jaina Purānas the Vānaras are represented as having at first been afraid of fighting with Ravana who they said was a mighty enemy To expel their fear Lakshmaṇa to their amazement, lifted up the huge rock, Koti Silā This removed all their doubts,—especially because there had been an old prophecy that the lifter of the Koti Silā would be the killer of Rāvana It is needless to point out that the Jaina account of the lifting of Koti-Śilā by Lakshmaṇa is a parallel to Vālmīki s account of the piercing of the seven Palm trees by Rāma and other such exploits

In the Jaina Purāṇas we are not told that a bridge had to be built for the passing of Rāma's army. Bibhīshaṇa, Rāvaṇa's brother, is admitted to have joined Rāma. His other brother, Kumbhakarṇa was taken captive. According to the Jaina account Indrajit and Meghanāda were two different persons,– brothers, not sons of Rāvaṇa. They also were taken captives The story of Lakshmaṇa's being hurt with the Śakti-Śēla of Rāvaṇa finds a place in the Jaina account, but the Jainas give a different account about Lakshmaṇa's cure. Medicine had not to be brought from the mountain Gandha mādana, as according to Vālmīki The Jāinas say that when Lakshmaṇa was lying wounded and Rāma was waiting, a man told them that there was a prince named Drōṇa-mīgha, who was subject to Bharata, the king of Ayōdhyā, the water from the body of Biśalyā, daughter of Drōṇa-mīgha, when she bathed, would cure the wounds of Lakshmaṇa Upon this, Hanumān went at once to Bharata who called Drōṇa-mīgha His daughter came to the battlefield with Hanumān in a chariot Her bathing water cured the wounds of Lakshmaṇa and of other ailing people. This princess was afterwards married to Lakshmaṇa

According to the Jainas, it was Lakshmaṇa, not Rāma, who killed Rāvaṇa Rāvaṇa was the Prati-Nārāyaṇa and had the unfailing Chakra with him He hurled it towards Lakshmaṇa, but as the latter was the Nārāyaṇa, the Chakra, instead of hurting Lakshmaṇa in any way came to Lakshmaṇa's hands to be used by him. Lakshmaṇa threw it towards Rāvaṇa and he was killed instantaneously. This Jaina account of the killing of Rāvaṇa with his own Chakra has a distant similarity to the story well-known to the followers of the Vēdic school, that Rāvaṇa was killed by a weapon, known as Mrityu-vāṇa (death-arrow), which had all along been with him and which, it had been so ordained, would kill him when thrown by an enemy against him.

*To be continued*

# MAGIC & MIRACLE IN JAINA LITERATURE

By

Kalipada Mitra M A, B L

(Continued from Vol VIII No I page 24)

The *Sūyagaḍaṅga* (2 2 15) mentions some occult sciences which people acquired for attaining success,* but which are condemned as evil sciences the practice of which would but result in evil consequences (*te anāriyā vippaḍivanrā kālamāse kālam kiccā annaya rāiṃ āsuriyāiṃ kibbisayāiṃ ṭhāṇāi uvavattāro bhavanti*) Some of these are subhagākaram, dubhagākaram gabbhakaram mohanakaram, āhavvanim, pāgasāsanī dabbahomaṃ, veyālim, addhaveyālim osovanim talugghāḍanim sovāgim, sovārim dāmilim, kālingim, gorim, gandhārim, ovayanim uppayanim, jambhanim thambhanim lesaṇim āmayakaraṇim visallakaranim, pakkamanim, antaddhānim āyamimim i e " the art to make one happy or miserable, to make a woman pregnant to deprive one of his wits incantations conjuring, oblations of substances the *vadali* and *ardhavadāli* arts the art of casting people to sleep of opening doors the art of Candalas, Śabaras, Dravidas Kalingas Goudas and Gandhāras the spells for making somebody fall down rise yawn for making him immoveable or cling to something for making him sick or sound making somebody go forth, disappear or come They practise wrong science "[86]

The commentary explains dabbahomam[87] as by flowers such as Kanavera or by honey ghee etc. working the *uccātana* charm (destroying his enemy[88] or making him disgusted etc.) and '*vadāli nāma vidyā niyatākṣarapratibaddhā, sā ca kila kaṭibhir japaih daṇḍam utthāpayai tathā ardhavadāli tameva upaśamayati* Jacobi explains the *vadāli* art teaches to raise a stick (? perhaps to lay a punishment on somebody) by spells and *ardhavadāli* to remove it In Pāli

86 S B E XIV P 366 *Āhavvanī* is *ātharvaṇī* commy sadyo narthakarinī vidyā

87 Cf *Sumangalavilāsinī* pp 67 ff *dabbihomam* along with *aggihomam mukhahomam lohitahomam* (bloody sacrifice)

88 *Kathākośa* p 33 *Pārśvanātha* p 138

*vetālam* means the magic art of bringing dead bodies to life by spells".[89] *Sovagī* is *Śvapākī* or belonging to Caṇḍālas, who play a very important part in magical and *tāntric* rites. *Caṇḍālī vijjā* is mentioned in *Paumacaria* (7. 142) and *Māyaṃgī* in *Āvaśyakacūrṇi.* (1) Jacobi takes *sovāriṃ* (Vaidya's edition) or *sovariṃ* (Āgamodaya ed) to mean 'the art of Śavaras', the Commentary has *Śāṃbara*, meaning sorcery, it may perhaps be connected with Asura Śāṃbara, and is an example of *Asuravidyā* or *māyā*, magic,[90] in the same way as *pāgasāsanī* is connected with *Pāgasāsana* or Indra, and is called *indrajālavidyā*. *Māyā* may be associated with Asura Maya. In *Kathāsaritsāgara* Maya asked Candraprabha to enter the body of a hero. Penzer, in the *Ocean of Story*, Vol IV says: The king had recourse to magic contemplation taught by Maya, and entered the body of that hero abandoning his own frame." *Dāmilī* means 'of the Draviḍa country', which was famous for magic; so *Kāliṅgī* 'of Kalinga Country'. Jacobi takes Gori to mean 'the art of the Gaudas,' which to me seems doubtful. In the *Santikarastotra* (6) Gori is a *vidyādevī*, so also Gandhāri, Rohiṇī (*Santi 5*) and Pannatti (Prajñapti, *Jambudvīpaprajñapti* 1, Āvaśyaka cūrṇi)' and all of them are mentioned together as *vijjā, mahāvijjā* in *Avaśyaka* (pt. I p 215) In *Kupra* Kumāra Pajjunna (Pradyumna) receives from Kanayamālā, his foster-mother, sciences *Gorīpaṃnatti* etc, with which he does wonders—changes shape and routs his father Kanha (Kṛṣṇa)[91] In *Kathākosa* (p. 32) there is mention of the *Prajñapti* science .." A Vidyādhara youth named Maṇiprabha knows by *prajñapti* that the son of Madanarekhā was discovered by king Padmaratha of Mithilā....[92] She is mentioned both as *devī* and a *vidyā* in *Supā* pp. 154, 158. In Pāli literature *gandhārī nāma vijjā* is mentioned at D 1. 213 as a charm, also at *J.* IV. 498 where it renders one invisible In the *Ṇāyā* (p 213) Nārada possesses the

---

89 *D A* (*Sumaṅgalavilāsini,*) i p 84, vetālaṃ ti ghanatālaṃ, mantenā matasarīrutthāpanaṃti, etc *Milinda*, p 331 indajalikā vetālikā

90 *S B E*, Vol XLIV, *Intro* xxxi, and p 368, footnote

91 pp 265-67, Gorīpannattivijjābalena kayo kumārena paraṃmaho

92 *Pārśvanātha*, pp 132-33.

made the king think, "This Saṃsāra is like *indrajāla*.[95]" This reminds us of the celebrated rope-trick. The *vidyā* of a *parivrājikā* in *Supā*. (p. 112) creates an illusion on the king so that he sees Campakamālā in company with some other man

In *Samarā* (pp 362,369-73) we read that Vidyādhara Cakrasena acquired a great spell (*mahavijjā*) by practising austerities. He gave the spell named *Ajitabalā* to Sanatkumāra. But to acquire this the latter needed an assistant (*uttarasāhaya*) At this moment his friend Vasubhūti suddenly arrived. He was then engaged in preparatory operations for acquiring the spell (*puvvasevā*) which lasted for six months One night he sat in the *padmāsana* (lotus seat) attitude, performed the *mudrās*, drew the *mandala* and began reciting his *mantra* a lakh times It seemed the sky gods laughed loudly, the unseasonal clouds thundered, the ocean roared and the earth quaked. Then he saw frightful apparitions (*vihīsiyā*)– a huge elephant in rut, then a wicked Piśācī, frightfully dark, with eyes flashing like lightning, wearing man's skin dripping blood and severed hands and feet hanging from her neck, drinking the wine of blood from a skull (*kavālacasaena*), piercing and kindling the sky with her fiery laughter and holding Vilāsavatī in her hand, and so forth. But as he remained unmoved the apparitions melted away. When the goddess Ajitabalā appeared, he did not salute her till he had completed the recitation of the *mantras* In this way he acquired the spell, *Ajitabalā* Vidyādhara Śaśivega gave king Ratnaśikha a science named *Invincible* with a thousand other sciences[96]. The goddess Ajiyabalā was the Śāsanadevī of Tīrthaṅkara Ajitanātha. In *Kupra* she is mentioned as standing at the door of the temple of Jinendra Ajitanātha[97]. She gives sons to those who have no sons, wealth to the poor and kingdom, knowledge, happiness, eyes and health to those who lacked them

Pleased with the valour of a thief who, while hanging from the branch of a tree underneath which was a basin of live coals by means

---

95 *Kupra* pp 133–136; 382

96. *Kathākośa*, p 144

97. *Pravacanasāroddhāra*, 27 *Kupra*, p 221.

of a rope, cut four strands of it the science named *Adhaṭṭhāyaṇi*, 'Floating' appeared and gave him a car on which he ascended to heaven[98] In *Supā* is mentioned a science known as *Saṅgrāmoddāmarī vijjā* which gives one victory in battles[99]

In the same book the following story is told There comes to Prince Bhima a Kāpālika wearing a garland of human skulls and says to him "I possess the supreme science of shaking the earth (*bhuvanakkhohaṇī*), I have served her for twelve years (*pubbaseva*) and now want to do *uttarasevā* (subsequent service, rites) so kindly be my *uttarasāthaga* (assistant and come to the *masaṇa* on the dark *caturdaśī* night. Bhima agreed, and came fully armed to the crematorium at the appointed time The Kāpālika drew a circle adored his mantradevatā and offered to bind the hair (*sihābandhaṃ*) of Bhima who said My prowess is my *sihābandha* you carry on, sir I am standing guard The Kāpālika being foiled in his ruse resolved to cut off his head by force assumed a hideous form reaching to the sky, held a huge knife in his hand and began to thunder like clouds He addressed him 'O you fool I will cut off your head but if you cut it off yourself then in another birth you will enjoy supreme bliss" The prince retorted, O thou false ascetic, thou Caṇḍala who wearest the skulls of those who trusted thee, I will take thy skull and be revenged for all of them " As the Kāpālika struck him with his knife Bhima leapt on his shoulder but instead of killing him dealt a terrible blow on his head The Kāpālika threw him up into the sky, and as he was falling he was held up by a yakṣiṇī named Kamalākṣā who brought him to her temple in the Vindhya hills After sometime the prince saw a huge arm coming through the space He rode it, passed through the air and was brought to the temple of Kālī She was of hideous face and eyes, riding a buffalo wearing a garland of human intestines and having twenty arms carrying various weapons He saw there the cruel deceiving Kāpālika holding in his left hand the hairlock of a beautiful man the arm on which the prince rode being his right

98 [illegible], pp 36 37

99 *Supā* p 144 śl. 116

have won me"[105] In *Kupra* (p 141) a *vijjā-sāhaga* intent on securing the spell of attracting beautiful women (*itthīrayaṇākarisaṇssa mantassa*) had performed the *puvvasevā* for twelve months, and was doing the *pahānasevā* by preparing to sacrifice a princess A *sādhaka* without the help of an assistant, *uttarasādhaka*, endowed with all auspicious signs, cannot attain a *mantra*, so a man requires the help of a prince for the attainment of *cetakamantra*[106] In *Samarā* Vijayadharma's wife Candravarmā is carried off by a magician who wanted to make use of her for the attainment of a certain spell The magician consoled him saying that the queen would suffer no harm and would return after six months[107] Thus we find that *uttarasādhakas* and *uttarasādhikās* were considered necessary for the attainment of *vidyā* or spell In *Pari*, we read that "two Vidyādhara brothers, Megharatha and Vidyunmālin in order to gain some magical power (*vidyāsādhanahetave* each resolved to marry a girl of low extraction with whom however, they were to live in chastity for a whole year The brothers went to a village of Candālas gained their confidence on conforming to their habits of life and were given each a deformed girl for wife[108] In *Samarā* (p. 330) a *siddhaputra* (magician) goes to *śmaśāna* (*peyavaṇaṃ*), draws the *maṇḍala* (magic circle) lights the fire and recites the mantra, when after a while, a *yakṣakanyā*[109], exquisitely beautiful in appearance descends from the sky

N M Penzer in *Ocean of Story*' (Vol II p 295) writes a long note on *Magic Circle*' The magic circle could be used as a vantage ground from which to summon spirits and also as a barrier from

---

105 *Upamiti* pp 269-70 tatah siddhīha n bhavatā iti vadantī prakaṭībhūta vidyā praṇat' sidhakena praviṣṭā tacchar re

106 *Kupra* pp 466-67 A vivid description of *śmaśāna* and the incidents is given

107 *Samarā*, p 642

108 *Pari* p 31 Canto II, Sl 647

109 Cf the *Śrī Guhyasamājatantram* (G O, S, LIII), a Buddhistic Tantrik work of the 3rd-4th century A D, Ch XIV, *mantrākarṣeṇa* where *sarvamantrākarṣaṇam* is related including attraction of *daityakanyā* and *vidyādharamahīkanyā*

which there was no escape He gives a long list of references which I need not repeat here In *Supa* (pp 136 137) there is mention of drawing a line round two serpents, a big and a small the latter riding the former (*bhanai imānam bandhava gamanam khillemi kaddhium reham*) In *Samarā* a physician draws a magic circle, and places inside it the patient Arahadatta applies charmed medicines and remembers his *maitthāna* (*māyāsthāna*, i e magic) *vijjā*[110] and drives away disea es

Goddess Kāli is known as the *Sāsanadevī* of the fourth Jaina Tirthankara (*Samti*, 9), also as a *Vidyādevi* (*Samti* 5) So also Mahākali[111] In *Supā* (p 401) there is mention of a *vijjā* named *Mori* this is probably the famous Māyuri or Mahāmāyuri Vidyā[112] Mention is made of the *Moraparitta* in Buddhist literature, six canonical texts being used as paritta viz Ratanasutta Khandaparittā, Moraparittā, Dhajaggaparittā Ātanatiya and Angulimālā parittā Dr Pertold says that the *Mora-paritta* in Morajātaka seems to be a pre Buddhist *mantra*[113] Jayaswal in his *Imperial History of India* says of Nāgārjuna that he will possess *Māyurividyā*[114] *Mora* in *Desi* means *candāla śvapaca* therefore mori vidyā is in effect the candālī or *māyangi vijjā* referred to above The Mātanga connexion seems to be very strong from Dr Levi s article, *On a Tantrik fragment from Kucha* (*Central Asia*)[115] from which I am quoting the following extract (In Kuchean) Homage to the Mātangins Kali ! Kālī ! Mahakali (In Sanskrit) Homage to the Mātangas to the Mātangikas boys girls clan family ancients Vidyādharas Viśvāmitra gods Trisanku Having worshipped, I shall employ this *vidyā* That this *vidya* may succeed for my sake ! Thā ! hā ! hi ! hi ! hi ! hu ! hu ! hi ! hi ! hi ! mili ! mili ! dudumi !

---

110 *Samavāyamga* 39 *Pamc sapakarana* 17 48

111 *Samti* 5 and 9 *Samarā* p 375

112 Cf Sādhanamāla p 457

113 *Jour Anthro Soc Bombay*, Vol XII p 735

114 *Imp Hist of India* p 18 also māyūrī nāmato vidya siddhā tassa mahātmano (*Mañjuśrīmūlakalpa* Sl 492)

115 *I H Q* Vol XII pp 198ff esp pp 201 202

Vegavāti ! yiyi ! Candi ! Mahākali ! Māyurī ! .Vetāli ! Citraketu ! Prabhāsvarā ! Ghorigandhuri , Candāli Vegavāhinī ! To Viśvāmitra, svāhā ! Who these Mātangas are is evidenced by the mention of Triśanku Mātangarāja along with Viśvāmitra Mātangarāja. The Mātangas are Candālas, therefore we are dealing here with those lowest forms of worship where untouchables are acting as priests This is the same world where we are carried on the Buddhist side with the celebrated Mātangisūtra, a Chinese translation of which dates as early as the end of the second century and another dates in the twenties of the third century .."

We find in the extracts some of the *vidyās* mentioned above, viz. Kālī, Mahākāli, Vetāli, Māyūrī, Caṇḍāli. *Ghorigandhuri* may in all probability be Gorī and Gandhārī.

I may here refer to the Inscription on the back of the statue of Amoghapāsa at Padang Chandi in middle Sumatra, Śaka year 1269 described in Dr B R Chatterji's *India and Java*, pp 79 The Bhairava consecration of Prince Ādityavarma, the Sumatran prince, who caused the statue to be established, is described therein, in conformity with Kālacakra Buddhism, ' the only way which paves the way for syncretism with Śaivism in its Bhairava aspect " There is also the Mātanginiśa inscription (1269 Śaka Era ) Chatterji says . " Mātanginī occurs in the *tantras* as one of the *daśamahāvidyās* This word also means a girl of low caste who acts as *yogini* in the *cakra* Ādityavarman's queen was the daughter of a tribal headman M Moens supposed her to be the Mātangini of the inscription In the *Guhyasamāja* a girl of low extraction such as a Mātangini (Caṇḍālī), a washer woman was used for the *tantric sādhanā* It seems that the *tantric* practices began from the second century and it began to be riotous in the 7th and 8th centuries, and attained climax in the 9th and 10th From Rājaśekhara's works it appears that the Kaula system was popular " In the whole of *Karpūramañjarī*, there is not a single word which might be constituted a dispraise of the *kaulas* or Bhairvānanda, the boozy exponent of the cult in the Drama ·· It gives in brief the main details of this system Exaggerated and repulsive as these might appear to modern readers they are faithfully

represented in the drama for every word regarding these can be certified as correct by reference to works of recognised authority on the Tantrik cult In Bhairava Cakra or the circle of Bhairavī where the Kaulas gathered to worship Sakti all castes were admitted meat of every sort excepting perhaps beef was allowed and every worshipper was required to contract a marriage which was to last to the end of the gathering Young widows, dancing women wives of barbers, washerwomen and women of some other castes were especially welcomed at such meetings and dishonoured with the title of Kulānganā'[116]

In the *Guhyasamāja* a Buddhistic Tantrik work of the 3rd 4th century 18th Chapter, ' mention is made of *Prajñābhiṣeka* or initiation of the disciple with Prajñā or Śakti There it is said that the preceptor should take by the hand the Sakti who is beautiful agreeable to the disciple and also an adept in the practice of *yoga* and place it on the hand of the disciple therefore this Vidyā should be accepted" Girl of a candāla of a washerman of a Nata of a Brahmakṣatriya Vaisya or Śūdra, should be used as helping the *sādhaka* [117] ' In the *Guhyasamāja* every thing is permitted, not only flesh of the most harmless kind but all kinds of flesh meat are permitted such as flesh of elephants horses dogs cows nay, even of human beings [118] The *Guhuasamāja* enjoined its followers to disregard all social laws ' You should freely immolate animals, utter any number of falsehoods without ceremony take things which do not belong to you even commit adultery—is the advice given to followers Before a sādhaka who has grasped the real truth the duality in the world disappears and all things are to him mere appearances But this philosophy led to riotous rites in subsequent times Magical practices, attainment of minor *siddhis* such as

---

116 *J I H* Vol IX pp 120 121 *Karpūramañjarī* I 23

117 *Intro* p xii, also Ch XV

118 Ibid Intro xii
hastimāmsam hayamāmsam tathottamam
bhakṣed buddhatvakṛtyārtham na cānyattu vibhakṣayet ॥ 26
gomāṁsa hayamāṁsaca śvānamāṁsena citrapa ॥ p 102

*mārana*, uccāṭana, vaśīkaraṇa, stambhana, ākarsana and śāntika (propitiatory rites) etc, are treated Mantras for destroying enemies, compelling rain, reviving persons from the effect of snake bite are given in the work

There is reference to the art of entering another's body in Parapurapraveśanisedhe Vikramādityakathānakam in *Kupra* ( pp 437-440). Bloomfield has thoroughly treated the subject in *Proc. Ameri Philo Soc.* Vol. LVI (1927), see also his *Pārśvanātha*, pp 74-83, N. M Penzer's *Ocean of Story* (Vol. IV, p 46) and the references quoted therein, which I need not repeat.

Saints know things by *manapajjava* (*manahparyāya* or *manahparyava*), or *avadhi* which cannot strictly be called magic. In *Samarā* (p 270) a king set dogs on a sage, and thought to cut off his own head in expiation of his sin. But muni Sudatta who possessed the power of reading other's thoughts said to him, "Don't think in the way" There is the *manapasina vijjā* which enabled one to answer questions which one puts in his own mind without disclosing it[119].

---

119 *Paṇhavāgaraṇa* 2 1, *Ova.*

# PRĀKRIT STUDIES

## THEIR LATEST PROGRESS & FUTURE[1]

*By*

Dr A N Upadhye

Looking back at the march of Oriental scholarship, we find that the Indologist had to take up the study of Prākrits in the dramas and rhetorical works so far as literature was concerned and in the Asokan inscriptions so far as epigraphic records were concerned But the interest in Prākrits had no bright prospects at this stage the contents of the Prākrit portions of the drama were studied from the Sanskrit Chāyā and the Inscriptions, which were often presumed to be in Sanskrit, occupied the attention of a few specialists Some scholars came to study the Pāli texts canonical and non canonical but the language, with occasional archaisms showed such an uniform constitution which was so well defined by grammatical standards that the study of Pāli was almost segregated as it were in the study of the evolution of Indian languages Gradually the field of Ardha māgadhī works was opened and cultivated to a great extent by Weber, Leumann Jacobi Schubring etc. and even in its early stages the study of Ardhamāgadhī, due to the affinity seen between Buddhism and Jainism connected itself linguistically with Pāli and the Prākrits in the inscriptions Soon Beames, Hoernle, Bhandarkar and others explained the growth of the Modern Indo-Aryan languages with the help of Prākrits Almost simultaneously with this study, Buhler was working like an academic link between India and Europe and scholars like Weber, Schmidt, Pischel, Pandit and others occupied themselves with Prākrit songs and poems, and dramatic and grammatic Prākrits It was Pischel collaborating with Geldner that found that some obscure Vedic words could be better explained with the aid of linguistic tendencies well known in the

---

1 This forms a portion of the Address delivered by Prof A N Upadhye as the President of the Prākrit Pāli, Ardhamāgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All India Oriental conference Hyderabad December 1941

Prākrits. Thus the field of Prākrits assumed well-defined outlines, though there was and still there is ample scope for adding details here and there; and on the eve of the last century sound foundation was laid for the Prākrit studies by Pischel's Grammatik der Prakrit Sprachen which is a monument of Germanic thoroughness and a marvel of methodical analysis of a bewildering mass of refractory material. Minor details may be added or corrected here and there, but Pischel's work, with its close associate Pāli Literatur und Sprache by Geiger, is a beacon light, as a descriptive grammar, to all the workers in the field of Middle Indo-Aryan. The latest studies of Prof. Bloch (L'Indo-Aryen du Veda aux Temps Modernes, Paris 1934) have clearly demonstrated how the Prākrits occupy an indispensable position in the study of Indo-Aryan. In view of the richness of material, the multiplicity of problems, the need of mastering so many languages or dialects, and the difficulties inherent in the field, it is wellnigh impossible for any single scholar to envisage the entire range of Prākritic studies completely and thoroughly Every one of us can honestly try to do what is possible for us.

It is a deplorable event that we cultivated the habit of studying Prākrits not from the original but through the Sanskrit Chāyā The reader satisfied himself with the contents and neglected the language; and thus, in a way, this method has been detrimental to the puritanic preservation and the natural study of Prākrits This tendency has been so deep-rooted with us that it has expressed itself in various ways. We are told that Siddhasena wanted to rewrite the entire Ardhamāgadhī canon into Sankrit. Some of the later play-wrights, who dare not give up the convention of using Prākrits in defiance of the rules of rhetoricians, add the Chāyā themselves to their Prākrit composition. There was felt the necessity of a Sanskrit summary for that excellent Prākrit Campū, the Samarāiccakahā of Haribhadra; and even to-day many read it through its Chāyā, a portion of which is just published The Apabhraṁśa Dohās and the post-Apabhrṁśa Rāsas are equipped with Sanskrit commentaries and Chāyā. Hāla's verses have been metrically rendered into Sanskrit in later years. The Jñāneśvarī, an old-Marāthī commentary on the Gītā, is rendered back into Sanskrit. Sanskrit rendering is supplied

even to the Asokan Inscriptions As a culminating point for all this, the Prākrit portion of the so-called Sanskrit dramas is studied only from its Chāyā in the courses of our higher education and it has been my experience that some of our graduates are not even aware of their neglect of the Prākrit original The cheap annotator has gone one logical step further and an edition of a drama is already issued cleanly purging the Prākrit passages from it. This method of study is as much unnatural as to render the Rgveda into classical Sanskrit and then study it I am afraid that but for the sanctity attached to the Vedic words and sounds we would have even done this The facts noted above clearly indicate that the study of Prākrits is neglected almost uniformly and there are reasons to believe that a good many works which are known to us only from quotations have been lost beyond recovery

A student is not adequately equipped for duly grasping the manifold currents of ancient Indian culture if he does not study both Sanskrit and Prākrit literatures side by side It is absolutely necessary that the study of these languages should go hand in hand The epigraphic evidence clearly indicates the popularity enjoyed by the Prākrits as a medium of popular expression and whether in the North or in the South the earliest royal edicts and private records are found written in Prākrit The dramas extensively use Prākrits which are assigned to women etc. and this testifies to the fact that the Prākrits were once popular languages Lately Prof J B Chaudhari has drawn the attention of scholars to some Prākrit poetesses in his excellent work Sanskrit Poetesses Vol II and we know that the Karpūramañjarī was first enacted at the instance of that cultured lady Avantīsundarī. But unluckily the Prākrit studies have not received the due encouragement which they deserve To take one example only a few Indian Universities have included Prākrits in their courses This however, should not discourage the serious worker the rich material in the fresh pasture of the Prākrit field is sufficient to encourage him to work on and fill up the gaps in the study of Indian literature by the results of his researches

1933) Prākrits present insurmountable difficulties to a conscientious editor, however our fidelity to the Ms tradition should not be infringed without sufficient reasons, and if we are too much tempted to offer emendations, we should state them clearly.

It is through Hāla's Collection, quotations in rhetorical works etc., that the orientalist is acquainted with a good deal of Prākrit poetry which is highly complimented by Rājaśekhara and others. As regards the prose style, we have grand models in Middle Indo-Aryan especially in works like the Milindapañha, Bhagavatī, Samarāiccakahā etc The text of the Vasudevahindi, which has already occupied the attention of eminent scholars like Dr Alsdorf (Harivaṁśapurāna pp 94-109, Hamburg 1936, Eine neue Version der verlorenen Bṛhatkathā des Gunāḍhya presented to the 19th International Oriental Conference at Rome; The Vasudevahiṇḍī a Specimen of Archaic Jaina Māhārāstṛī, Bulletin of the SOS, VIII, parts 2-3; A new version of the Agadadatta story NIA I 5), when completely published, will give rise to a crop of problems connected with the Indo-Aryan language and literature. These texts afford rich material for the study of the MIA prose. Dr. A M. Ghatage has already begun a systematic study of Prākrit Syntax (Repetition in Prākrit Syntax, NIA II, 1, Concord in Prākrit Syntax, Annals of the BORI, XXI, 1-2). Lately in his Doctorate thesis on the Causal in the Indo-Aryan, he has fully discussed the different aspects of causal formations in Prākrit

The early stratum of the Prākrit literature, which is held sacred by the Digambara Jainas, is at present represented by the works of Śivārya, Kundakunda, Vaṭṭakera and others It was believed, and rightly so as lately shown by Prof Hiralalaji (Jaina A. Vol VI pp. 75-81), that still earlier texts are embedded in the huge commentaries, Dhavalā, Jayadhavalā and Mahādhavalā whose only Mss. exist at Moodbidri in South Kanara For decades together they were not being given out Times are changed, and the copies of the first two have come out Under the patronage of Sheth Lakshmichandraji Shitabrai, Prof. Hiralalaji, Amraoti, has already brought forth three sumptuous volumes of Dhavalā giving the text and Hindi rendering.

His learned Introductions are bringing to light many new facts and in various contexts we shall have to modify our knowledge of the history of Jaina literature It is for the first time that these works dealing with highly technical Jaina dogmatics and in Prakrit prose of a logical style ( with occasional Sanskrit passage here and there ) have been brought to light and thus an important branch of Indian literature is opened for study It is a matter of satisfaction that the Jayadhavalā also has been taken up for publication under the liberal patronage of Sahu Shantiprasadaji Jain by the Jaina Sangha Mathura and Pt Mahendrakumaraji, Benares, and his colleagues have been entrusted with the editorial work Prof Hiralal s work has been appreciated everywhere and it has been possible for him through the goodness of Śrī Cārukīrti Bhaṭṭāraka of Moodbidri to compare the press copy of the Dhavalā with the original palm leaf Mss at Moodbidri It is necessary, and we earnestly appeal to Śrī Cārukīrti Bhaṭṭārakajī and the local Pancas of Moodbidri to make available to scholars the copy of Mahādhavalā also We see no reason why Mahādhavalā should not be published from Moodbidri itself and thereby enhance the greatness of that holy place The works of Śivārya and Vaṭṭakera are published with their Sanskrit commentaries, but as yet they are not subjected to a critical study They contain much matter which antedates the division of the Jaina church into two great schisms, Digambara and Śvetāmbara and if their contents are duly compared with Nijjuttīs, many interesting facts can be brought to light. The lines of study are partly indicated by Leumann ( Ubersicht uber die Āvaśyaka Literature Hamburg 1934 ) and we have to pursue them further

So far the Jaina Commentarial literature, for which we have a great bulk in Prākrit and Sanskrit and on both the Svetāmbara and Digambara texts is studied only to understand the basic texts Many commentaries are published but few are critically studied The Nijjuttis, Cūrṇīs and even the Sanskrit commentaries are a rich mine of information giving Pūrvapakṣa views quotations from Jaina and non Jaina texts traditional and didactic tales and bits of cultural information all of which are not so far properly sorted and critically assessed We know the dates of many of these works, and hence

their contents assume a chronologinal value. Prof. Vidhushekhar Bhattacharya has lately shown ( IHQ, XVI, p. 143 ) that Gunaratna quotes from and was quite familiar with the Pramānavārtika of Dharmakīrti, the text of which has been lately edited by Śrī Rāhula Sankratyayana. In some cases the quotations have some textual value as shown by Mr P K Gode in his interesting paper 'The Bhagavadgītā in the pre-Śamkarācārya Jaina sources ( Annals of the BORI, XX, p. 188 ff. ). I have lately proved how the Jīvatattvapradīpikā ( Sk ) on the Gōmmatasāra was wrongly attributed to Keśavavarni when, in fact, it was written by one Nemicandra, contemporary of king Sāluva Mallirāya who flourished in South Kanara at the beginning of the 16th century A. D (IC, VII, 1). A scrutiny of their quotations often helps us to put good limits to the age of these commentaries as I have attempted in the case of Vasunandi's Vrtti on the Mūlācāra ( Woolner Comm Vol, Lahore 1940, p. 257 ff ), and as Mr. Gode has shown with respect to Malayagiri's date ( Jaina A, V, 4, p 133 ff ). It is desirable that the Editors themselves should analyse such material in their editions; and if they have not done, some of us can take up these topics and study them thoroughly.

The study of Apabhramsa language and literature is a new field in Indology. Many valuable texts have been edited by scholars like Jacobi, Dalal, Gune, Sahidullah, Gandhi, Vaidya, Hiralal and Alsdorf. Important discussions on the nature of this language have been contributed by Jacobi, Gandhi, Hiralal, Alsdorf, Upadhye and others It is a relief to many of our students that Jacobi's Introductions are translated into English by Dr Manilal Patel. A number of linguistic and metrical problems connected with Apabhramśa are ably discussed by Dr Alsdorf in his Apabhramśa-Studien (Leipzig 1937). Students of Apabhramśa have nothing but praise to offer for the arduous and patient labour with which Dr P L Vaidya has finished his sumptuous edition of Puspadanta's Mahāpurāna in three volumes The joint efforts of Premiji, Hiralalaji, Alsdorf and Vaidya have not only rescued from oblivion one of the great poets of medieval India, but by their solid contributions have also given him a significant seat in the galaxy of Indian poets. The fading flower

of Puṣpadanta's genius bloomed once more at Mānyakheṭa the modern Malkhed in this very territory of H E. H the Nizam and under the patronage of Bharata he composed his Mahāpurāṇa The personal touches, which are nicely outlined by Dr Vaidya in his Introduction are simply thrilling and throw a good deal of light on the personality of Puṣpadanta It is for the future workers now to work out internal details with befitting devotion What we possess and what we know about Apabhramsa literature and language are nothing in comparison with what is still buried in Mss in the great Bhandāras scattered all over Rajaputana, Gujarat and the adjoining territory The Apabhramsa language appears to have been intensively cultivated nearly for one thousand years, almost from the 6th to the 16th century A D, all over this area Here is a virgin soil that awaits intensive labour of a few generations of scholars For a while we must set aside our imaginative faculty in putting forth startling theories from meagre facts must curb to some extent the premature enthusiasm of the fresh discoverer, guard ourselves against sweeping generalisations and patiently labour on these Mss to bring to light manifold linguistic and cultural facts and assess their significance in a proper perspective What we want to day is the authentic editing of these works The documentary value of the works of many of the Apabhramśa and Old Gujarāti poets is far superior to that of the works of even later authors like Jñānesvara and Tukārāma in Mahārāṣtra Reliable texts that are systematically and definitely constituted after using specified and authentic Mss material are a pre requisite of all research and serious study To begin with our editions may not be and cannot be absolutely critical but a careful editor can make them reliable within the limits of the specified material That is a modest beginning for all further work and no critical investigation can be carried on with uncertain texts Necessary help for such work is available Hemacandra has given to us a practical outline of Apabhramsa Eminent scholars like Jacobi, Hiralal Vaidya and Alsdorf have placed before us model editions and the significant part of their work is that they are guided more by the cumulative evidence of grammatical standard arrived at by the study of Mss than by the rigid rules of some grammarian or the

other. Pāiasaddamahannavo is a good dictionary for all practical purposes. Apabhraṁśa marks a new era in Indian literature in the employment of metres quite fitted for the genius of that language. The valuable material and the learned discussions presented by Prof. H D. Velankar in connection with the metrical discipline of Prākrit and Apabhraṁśa form a mine of information and as such are indispensable to all students of Prākrit literature His latest contribution pertains to Apabhraṁśa and Marāthī metres ( NIA I, 4, pp 215 ff), and we are soon expecting his edition of Hemacandra's Chandonuśāsana (the portion dealing with Prākrit metres) equipped with highly useful Indices The mathematical portion of the Pratyāhāras from this work is studied by Dr Alsdorf in his article in Zeitschrift fur Indologie und Iranistik ( Leipzig 1933 ). We owe a good deal to scholars like Haraprasada Shastri, Sahidullah, Bagchi, Chowdhari and others in connection with the study of what is called eastern Apabhraṁśa Lately Dr. P. C Bagchi has edited the Dohākośa ( Calcutta 1939 ), which presents the Apabhramśa texts of the Sahajayāna school with Chāyā and Sanskrit commentary on some portions Day by day new Apabhramśa texts are being brought to light, Prof Hiralal has lately written an article on the Anuvaya-rayana-padiva of the 13th century A D (JSB, VI, p 155ff), and I am presenting to you a paper on Harisena's Dharmapariksā composed in 988 A D. The Apabh field is a rich pasture to feed our studies upon What is done is nothing in comparison with what needs to be done I dare not advise you· let us all sincerely and systematically work in co-operation with each other in order to advance the studies which we have inherited from our worthy predecessors

Apart from its linguistic importance, the Apabharaṁśa poetry is rich in its metrical and rhetorical devices, possesses a good deal of ethical wisdom and exhibits a close observation of the work-a-day world What we see in Hāla's songs is found here on a magnified scale. The flow of words rushes like a mountain stream, as Uddyotanasūri has put it, and the war-descriptions give a thrill Though the expressions are vigorous, softer sentiments like love, piety and kindness are sketched with a remarkable human touch

The literature, as a whole is anything but aristocratic and reflects different aspects of Indian society Not only a cold linguist gets rich material but also [redacted] sentimental literary artist finds a delicious dish in this tract of literature Nowhere else in Indian literature sound and sense and outward music and internal melody have so much co operated to create an indeliable poetic effect as in Apabhramśa

A thorough study of Apabhramśa texts is necessary in yet another way So far as Gujarāti and Rājasthānī are concerned there is every prospect of tracing the history of the evolution of these languages and much that has been written in the past will have to be rewritten after using the material from Apabhramsa literature How closely connected is the origin of the Modern Indian languages with Apabhramśa [redacted] briefly but clearly shown by Dr Alsdorf in his popular lecture on Die Entstehung der newindischen Sprachen ( ZDMG for 1937 ) Lately Prof Narottamadas Swami and other scholars have nicely edited some old Rājasthānī texts The topic has been critically approached by Tessitori Turner Dave and others but still much more requires to be done The linguistic data is so vast and varied that it brings us almost to the dawn of the period of New Indo Aryan especially in Gujarāti and Rājasthānī Old Rāsas, many of which have been noted by Mr M D Desai and others are indispensable in the study of the earlier stages of Gujarāti Some words and forms can be studied through dated records at regular intervals In Maithili also the old poets like Vidyāpati remind us of a good deal of Apabhramsa as we know it from the grammars

With the national consciousness that we see prevailing every where in India more and more attention is being devoted to the study of modern Indian languages which, in the long run will serve as the medium of instruction in the higher education also After all it is our graduates and under graduates that are to mould our literary langunges and their perspective usually depends on what they have studied for their examination It is not enough therefore, that students should studv only modern literature in their courses of modern Indian langunges but they must be duly equipped with some knowledge of Prākrits especially Apabhramsa It [redacted] high

time that the Universities, which have modern Indian languages in their degree courses, should see that the curriculum prescribes a first-hand knowledge of Prākrits and Apabhraṁśa. A sudden leap from Sanskrit to Hindī, Gujarātī or Marāthī gives no clear grasp of the language to the student; and in the absence of any training in or acquaintance with Prākrits, some of the etymologies etc, attempted by even notable writers are simply inauthentic, if not ridiculous In some provinces the language that is being evolved to-day is somewhat pedantic and the literary language is drifting away from the language spoken by masses The Prākritist has to be immune from provincial predilections and prepossessed partialities If the facts collected do not warrant a categorical conclusion, let us refrain from arriving at it. A law or a theory hurriedly laid down is fatal to all progressive scholarship Theories may be fascinating; but if they are not well-founded, they blur our vision Unfortunately the study of Prākrits has suffered to a certain extent due to some theories which thrived on scanty facts Without any ceremonious hesitation we had to give up the theory that there were as many Apabhraṁśas as there are provincial languages to-day Further the builders of science have always a set of terminology, but when we use them later on, we have to be fully aware of the meaning originally attached to these terms For instance, the Eastern and Western Schools of Prākrit grammar have to be understood with some proviso (BV II, ii, p 171) Terms like Mahārāstrī, Śaurasenī may have had some regional colour in the beginning, but once they became literary languages, their connection with a particular locality cannot be insisted on to its logical extreme Such statements as 'Wherever Māhārāstrī works were written is Māhārāstra' only show how loosely these terms are used by some people Jaina Māhārāstrī or Jaina Śaurasenī has nothing to do with Jainas in Mahārāstra or Śūrasena territory The Prākritist has to guard himself against such pitfalls.

Now it is wellnigh admitted by scholars that Apabhraṁśa, with minor local variations here and there, formed the basis and the prototype of the Modern Indo-Aryan vernaculars, and was current over an extensive portion of Northern and Central India If, therefore, our present vernaculars are to be enriched in vocabulary and

grammatical formation here is a common field on which we can draw to some extent this would bring our language nearer the masses and this approach would satisfactorily solve, in a large measure the problem of the vocabulary of our National language which we are trying to evolve for interprovincial intercourse

Following the lead of Grierson Tessitori Turner etc, eminent Indian linguists like Drs Chatterji Banarasidas Dhirendra Varma Saksena Dave Katre Kakati and others have given to us admirable monographs on various languages and dialects like Bengali, Panjabi, Braj Awadhi Gujarati, Konkani, Assamese etc From the nature of the material available to them, their studies are devoted more to the problems of phonology than to questions of morphology, while the aspect of syntax is clearly left out Thus there is still a good deal of scope in clearing up the origin and growth of forms and syntax of most of these languages, particularly with the aid of the welcome help supplied by Apabhramsa literature Even in phonology the new material available in the ever increasing Apabhramśa works has to be further investigated as is apparent from some of the problems studied by Dr Alsdorf in his Apabhramsa Studien Thus can be marked out the period of the beginning of the Modern Indo Aryan languages some of which have developed interesting post positions *A systematic study of any phase of the New Indo Aryan cannot be divorced from the thorough study of the Middle Indo Aryan* In other words and going one step further, our modern languages should be approached on the one hand from the Prākritic side and on the other from that phase of the present language which is current among the masses This alone would give us a complete outline for our study

The urgency of systematising and popularising the Prakrit studies is being gradually felt and we are glad to welcome a few of the latest publications in this direction Dr A M Ghatage's Introduction to Ardhamagadhi ( Kolhapur 1941 Second revised ed ) is a systematic and serious attempt to lay the foundation of Ardhamāgadhi study on a sound basis keeping in view the position of Ardhamāgadhi in the Middle I—A and general linguistics Though

meant for beginners, it does not ignore the needs of higher studies In view of the methodical record of authentic forms, this Introduction would be very useful to all the students of the Middle I-A. The Jaina Siddhānta-kaumudī or the Ardhamāgadhī Vyākaranam by Śrī Ratnachandraji Muni ( Lahore 1938 ) is an attempt to present the facts of the Ardhamāgadhī grammar in Sanskrit on the model of the Siddhānta kaumudī naturally it would be very useful to Sanskrit Panditas to acquaint themselves with Ardhamāgadhī The Mahābodhī Sabhā, Sarnath, has been, with a view to popularise the contents of the Pāli canon, issuing Hindi translations of some important Pāli works, and as a supplementary step in this effort, a standard and exhaustive Pāli grammar in Hindi, was a desideratum. This need has been ably fulfilled by the Pāli Mahāvyākaraṇa ( Sarnath, Benares 1940 ) of Bhikshu Jsgadiśa Kāśyapa, who has systematically presented the contents of the Pāli grammar of Moggallāna, whose Sūtras are constantly referred to in the foot-notes and are continuously reproduced ( with the Dhātupātha ) in an appendix. Together with Geiger's Pāli Literatur und Sprache, it is an extremely useful volume for the student of Pāli

A time may soon come when standard Dictionaries of Modern Indian languages have to be compiled after studying the etymological history of every word in the light of Sanskrit, Prākrit and Dravidian sources Turner's Nepālī Dictionary has already set an example. The Prākrits afford such a rich material that a Prākritist has to contribute a substantial share in tracing the etymological and semantic growth of various words in the Modern I-A. The so-called Deśī words open his vista still further, and he has to establish close connection with Dravidian languages as well If we are able to publish all the major Apabhramśa and post-Apabhramśa texts, in many cases we might be able to detect the growth of words and forms at different intervals No Dictionary of any New I-A language can be worth the name, if it silently ignores the rich material from the Middle Indo-Aryan languages.

The lexicographical, etymological and grammatical study of Prākrits, if systematically carried out in relation to the usages in

Jaina and Buddhistic Sanskrit texts and commentaries is sure to be fruitful and sure to advance our knowledge of the Middle Indo Aryan *to a great extent The Jaina Sanskrit texts are not sufficiently* utilised in our Sanskrit Dictionaries that is a handicap in our studies The interpretation of Antaraghara (NIA, I 1) and Tāyin Tāyi and Tidi (D R Bhandarkar Vol p 249 ff ) given by Dr P V Bapat the explanation of utkalapaya by Dr A M Ghatage NIA, I 5) Prof Edgerton s fresh light on the Pāli 'middha (NIA II 9) on the Indic 'diśati = says (Woolner Vol p 88) and on the ending less Noun case forms in Prākrit (JAOS, 59, No 3) discussion about the Prākrit 'uccidima and uccudai by Dr S M Katre (Kane Vol p 258) and about sāmiha etc, by Dr Alsdorf (Bulletin of the SOS, Vol X part i, p 22) and the collection of various passages men tioning gommata made by me (IHQ XVI p 819 ff BV II, ii) do indicate that a good deal of *fruitful* work can be done in this direction The Jaina texts, especially from Gujarāta show interesting solecisms (some of whose counterparts are quite normal in Prākrits) which if studied in the light of the various readings given in our national edition of the Mahābhārata issued by the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, would give us some idea of the popular aspects of Sanskrit in the medieval ages

The linguistic material afforded by Prākrits is rich and varied it belongs to different localities in India and the period of time covered so far as written records are concerned is not less than two thousand years We are at the beginning of our studies and many riddles are still to be solved Naturally if linguists find this a slippery field to sustain their grand theories, let them not hazard mere flights of speculation and shower on us sceptical curses The Indian condi tions being vastly different some of the theories and modes of evaluation developed with definite facts of European languages, may not be exactly applicable in the different fields of Indian languages and even Bloch has warned us to be very careful in giving the evidence its proper value Immense material is still to be brought to light before subtle and delicate critical tests can be applied If facts are properly sorted and placed in the hands of an expert linguist, he can make good use of them we see how Bloch

has used the facts from the Prākrits in his survey of the Indo-Aryan The field being very vast, departmentalisation for the convenience of study is necessary · only we should not lose sight of the wider generalities It is already noted above how good work is done in Prākrit metrics and syntax Some of the dialects can be studied individually and exhaustively. In continuation of what Pischel had sketched, I have lately taken a survey of Paiśācī language and literature (Annals of the BORI, XXI, pp 1-37) A similar survey of Māgadhī was given to us by W. E Clark many years back (JAOS, 44). What we want at present is a systematic and patient collection of facts which will enable further critical study The Prākrit Inscriptions have not been viewed as a whole from the point of view of the language I learn, however, that a post-graduate student is working on this subject under the guidance of Dr S. M Katre in the Deccan College Post-graduate Research Institute, Poona. The classified linguistic data would help us to assess the value of our Prākrit grammars and other traditions about Prākrits.

The Prākritist, as a linguist, has another duty to fulfil. With the spread of education and standardisation of Modern Indian languages, a lot of valuable material in the popular speech is bound to disappear after a time Many words, forms and turns of expression, which have a historical justification, are looked down upon as vulgar, because they do not conform to the current standard of the so-called correct language of the educated classes. For a student of the Middle Indo-Aryan, such linguistic material among the masses, in many a case, represents significant stages in the evolution of the Prākrit languages into the Modern languages This raw meterial is fast disappearing, and we cannot afford to wait any longer. It is not enough if we merely repeat the facts collected by Grierson and others Parroting the theories of our Western masters may have its value, but some day we have to rise above that we must assiduously collect the linguistic facts from the tribal areas and the uneducated village populace. If these facts are approached from the side of Prākrits, their value is likely to be appreciated better; and in the long run rich material would accumulate. Those who have some linguistic training can certainly reach positive results by noting and systematically classifying these facts

India is a veritable museum of languages and dialects both written and spoken dead and living Taking into account the data supplied by Sanskrit amd Prakrit grammarians keeping in view the scientific methods evolved by the advanced linguists of the West, duly cellecting the material from the Prākrit and Apabhramśa texts and putting together the data available from the uneducated masses, who are sure to inherit genuine and old material that is lost in the case of educated classes on account of new influences and grammatical standardisation, we find that the growth of Indian languages has not only a strong foundation but also a consistent growth which will interest many a scholar The educated people, on account of their limited standards may shun the language of masses as incorrect but for a linguist there is nothing like correct or incorrect every authentic fact of the language has a legitimate place in his historical and comparative study of the growth of language

There is a common belief that the study of Prākrits has little to do with those parts of South India where Dravidian languages are spoken and consequently the study of Prākrits has no bearing on Dravidian philology We know that some of the Āndhra dynasties have left their inscriptions in Prakrit and there are traditions which associate literature written in Prākrit with the kings of that dynasty Hāla or Śātavāhana is the most notable example Coming to the Kannaḍa area and the adjoining territory we have a series of writers like Kondakunda, Vaṭṭakera Kumāra Vīrasena, Jinasena, Nemicandra and others whose Prākrit works have come down to us Dharmapāla is associated with the South and Kāñci is an important place in Pāli tradition The Tamil works like Kuṇḍalakeśi and Manimekhalai, though the first is lost now, we owe to Buddhist authors The Prākrit grammarians like Trivikrama, Simharāja Lakṣmīdhara and perhaps the author of Prākṛtamanjari belonged to the South. My researches on the Kaṃsavaho of Rāma Pāṇivāda (Hindi Granthāratnākara Kāryālaya Bombay 1940) made it clear to me that we had altogether neglected an important tract of Prākrit literature cultivated in the extreme South Kṛṣṇalīlāśuka wrote his Siricimdhakavvam in the 13th century A D to illustrate the rules of the Prakṛta prakāśa.(BV III, 1) and as late as 18th century A D Prākrit works were written in the Keraḷa country Besides the

Śauricarita of Śrīkantha, lately there has come to light an incomplete Ms. of Gauricarita We owe to Rāma Pānivāda a commentary on Vararuci's Sūtras and two Prākrit poems, Kaṁsavaho and Usāniruddham The text of the second also is edited by me from a single Ms (JUB. September 1941) Rudradāsa has written a Sattaka, Candralekhā, to celebrate the marriage of Eralapatti Rāja, the Zamorin of Calicut These are not stray efforts, nor are they confined to mere cultivation of some sacred literature. They show a continuity of Prākrit study.

It is not unlikely that Prākrits may have influenced Dravidian languages too. So far as Kannada is concerned, we have undisputable circumstantial evidence and solid facts, which go to show that a novel mould in Kannada style was cast under the inspiration of Prākrits It is quite likely that some of the Jaina writers, who wrote in Kannada were already acquainted with Prākrits, especially Jaina Śaurasenī as we call it to-day We know, how Āṇdayya openly rebelled against the excessive use of Sanskrit words in Kannada poems, and he wrote his Kabbigara kāva in what he calls pure Kannada How the contemporary critics received it, we are not in a position to judge ; but the subsequent Kannada works do show a moderation in the use of Sanskrit words But to-day if we look dispassionately at the performance of Āndayya (c. 1235 A. D), we find that many of his words are converts from Sanskrit according to to the rules of Prākrit grammar, of course without violating the phonetic trend of the Kannada language His words like 'sakkada' for 'samskṛta'. 'kabba' for 'kāvya' etc, are quite familiar to Prākritists. Again if we carefully study the Apabhraṁśa-prakaraṇa from the Śabda-mani-darpana of Keśirāja, various rules clearly betray the influence of Prākrit grammar. I am not aware of any detailed study in this direction Many of the so-called Deśī words, current in Prākrits, can be traced to Dravidian group of languages If Prākrit influence is detected in the growth of Kannada vocabulary, we should try to see whether any such influence is seen in Telugu and Tamil. I take the liberty of requesting my colleagues, working on Dravidian philology, to take into account the relation of Prākrits with Dravidian languages in course of their studies.

---

# THE JIVĀNUŚASANA VRTTI OF DEVASŪRI AND ITS DATE A. D 1105

By

K Madhava Krishna Sarma, M O L, Curator, Anup Sanskrit Library and Director of Oriental Publications, Bikaner

There is a Ms of this work in the Anup Sanskrit Library Bikaner It consists of a Prākrit text and a Sanskrit commentary by Devasūri A chronogram at the end mentions the date Samvat 1162 The work was written in Aṇhilla Pāṭakanagara in Ghūrjaradesa when Jayasimha, son of Karnadeva, was ruling The Ms was copied in Saṁvat 1561 (A D 1504) by Śivadāsa The extent of the work is at the end stated to be 333 Gāthās It consists of the following 39 sections

(1) Bimba pratiṣṭhāvarnanalakṣana
(2) Pārsvasthavandanādipratipādaka
(3) Pākṣika vicāranalakṣana
(4) Vandanatrayavicāralakṣana
(5) Āryikānandivaktavyatārtha
(6) Dānanisedhavicāravarnana
(7) Māghamālāpratipādaka
(8) Caturvimśatipaṭṭakādivivarana
(9) Not marked
(10) Siddhabalivicāralakṣana
(11) Pārśvasthādisamīpaśravanādivicāravarṇana
(12) Vidhicaityakaranavarnana
(13) Not marked
(14) Sanghavicāravarṇana
(15) Pārsvasthādyanuvarnana
(16) Jñānavādavajñāvicārārtha
(17—18) Gacchaguruvacanatyāgavicāra
(19) Brahmasāntyādipūjanavicāra
(20) Śrāvakasiddhāntagāthāpāṭhanavicāra
(21) Skandhaca (?)ṭitavihāravarnana
(22) Māsakalpavicāra
(23) Sūrimaladharaṇavicāra
(24) Kevalastrīvyākhyānakathana
(25) Srāvakapārsvasthavandana

(26) Śrāvakasevāvicāra.
(27) Āryikādharmakathanavivarana.
(28) Jinadrvyotpādavarnana.
(29) Aśuddhagrahaṇakathana
(30) Pārśvasthādisamīpakṛtataponindāvicāra.
(31) Pārśvasthādikṛtajinabhavanapūjāvicāra.
(32) Mithyādṛstivarnana.
(33) Voṣāpramāna
(34) Asaṁyataśabdavicāra.
(35) Prānivadhadānavarnana.
(36) Cāritrasattāvicārana.
(37) Ācaranavarnana.
(38) Guṇastutivicāra.
(39) Prakaraṇasāra.

The MS. is in a fairly good condition. It consists of 50 folios

# THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VIII 1942

*Edited by*
Prof Hiralal Jain M A LL.B
Prof A. N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR, INDIA.

*Annual Subscription*
Inland Rs 3 Foreign 4s 6d Single Copy Rs 1-8

# CONTENTS

# RULES

1 The Jaina Antiquary is an Anglo half yearly Journal which is issued in two parts, *i e*, in June and December

2 The inland subscription is Rs 3 (including Jain Sidhanta Bhaskara ) and foreign subscription is 4s 8*d* per annum payable in advance Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1 8 0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to the Manager Jaina Antiquary The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication the office at Arrah should be informed at-once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography art, archaeology iconography epigraphy numismatics religion literature philosophy ethnology folklore etc. from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles notes etc. typewritten and addressed to K P Jain Esq, M R A S Editor Jaina Antiquary Aliganj Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles notes, etc.

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

Prof HIRALAL JAIN, M A LL.B
Prof A N UPADHYE, M A D Litt
B KAMATA PRASAD JAIN M R A S
Pt K BHUJABALI SHASTRI VIDYABHUSANA

## जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—
सं० प० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ।।)

(४) प्रशस्ति-संग्रह [प्रथम भाग]—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १।।)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ।।।)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ।।।)

(७) Jaina Literature In Tamil *by* Prof A. Chakravarti, M A, I. E S, .. . ... Price Rs. 2

(८) भवन के संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की सूची .. ... १)

(९) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची .. ।।।)

(१०) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ... ...[अप्राप्य]

(११) ,, २य भाग . ... ... ४)

(१२) ,, ३य भाग ... ... ... ४)

(१३) ,, ४र्थ भाग .. .. ४)

(१४) ,, ५म भाग ... ... .. ४)

(१५) , ६ष्ठ भाग . ... .. ४)

(१६) ,, ७म भाग ... . ... ३)

(१७) ,, ८म भाग .. ... . ३)

(१८) ,, ९म भाग . ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान

**जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)**

PRINTED BY D. K JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ८ किरण १

# THE JAINA ANTIQUARY

Vol VIII No 1



*Edited by*

Prof Hiralal Jain M A LL B
Prof A N Upadhye M A., D Litt
B Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri Vidyabhushana



PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR INDIA

JUNE, 1942

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-सम्बन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे, प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए, एल एल बी

प्रोफेसर ए एन. उपाध्ये, एम ए, डी लिट्

बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए एस

पण्डित के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी पाण्मासिक पत्र

भाग ९ | ज्येष्ठ | किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

---

जैन सिद्धान्त भवन, आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३॥ | एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४२

# विषय-सूची



*ग्रन्थमाला-विभाग*



---

श्रीजिनाय नमः



सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ९ | जून, १९४२। ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४६८ | किरण १

# राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्षकी जैनदीक्षा

[ ले०—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम ए, एल एल बी ]

राष्ट्रकूटवंशके राजा अमोघवर्ष (प्रथम) इतिहास प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मान्यखेट राजधानी बसाई, जो अपने वैभव और सौन्दर्यमें इन्द्रपुरीसे भी बढ़ गई थी। इनके राज्यकालकी प्रशस्तियाँ शक संवत् ७३८ से ७९९ तक की मिली हैं।[1] उनसे पूर्वके राजा गोविन्दराज (तृतीय) का एक ताम्रपत्र शक ७३५ (सन् ८१३) का पाया जाता है तथा अमोघवर्षका एक लेख शक ७८८ का उनके राज्यकालके ५२ वें वर्षका है। इन उल्लेखों परसे उनके राज्यका प्रारम्भ सन् ८१४-८१५ सिद्ध किया गया है।[2] इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षने सन् ८१५ से ८७७ तक ६२-६३ वर्ष पर्यन्त राज्य किया।

अमोघवर्ष नरेश किस धर्मके अनुयायी थे, इस प्रश्नका उत्तर भी उनके समयके अनेक ताम्रपत्र, शिलालेख व साहित्यिक उल्लेखोंसे चल जाता है। एक कुशल नीतिज्ञ राजा किसी धर्मविशेषका पक्षपाती या विरोधी नहीं हो सकता। तदनुसार अमोघवर्षके हिन्दूधर्म व जैनधर्मके प्रति सत्कार और उल्लेख मिलते हैं। तो भी हिन्दू धर्म सम्बन्धी उल्लेख होने पर भी इतिहासकारोंने यह स्वीकार कर लिया है कि अमोघवर्षकी

1 रेउ भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृष्ठ ३६ आदि।

2 Altekar The Rashtrakutas and their times P 71

अर्थात् पूर्वोक्त उल्लेख परसे ऐसा मालूम होता है कि अमोघवर्ष कई बार अपने युवराजको या मन्त्रिमंडलको राज्यभार सौंपकर कुछ दिन एकान्तवास और ध्यानके लिये अपने जैन गुरुओंके साथ बिताया करते थे। इससे भी यही ज्ञात होता है कि ये धर्मात्मा नरेश हिन्दू और जैनधर्मके उन उपदेशोंको अपने आचरणमें उतारनेका प्रयत्न करते थे, जिनके अनुसार धर्मिष्ट मनुष्यको अपनी वृद्धावस्थामें संसारकी झंझटोंसे अलग होकर जीवनके उच्चतम आदर्शको प्राप्त करना चाहिये।

तब क्या प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें अमोघवर्षके किसी ऐसे ही एक अल्पकालीन राजत्याग-का उल्लेख है और उसी अल्पकालमें वह रचना करके वे पुनः सिंहासन पर आ बैठे होंगे? यह बात तो सच है कि जब शक ७८८ के लेखमें उनके राज्य-त्यागका उल्लेख है, तब किसी अल्पकालीन त्यागका ही वहाँ अभिप्राय हो सकता है, क्योंकि उसके पश्चात् शक ७८९ व शक ७९९ के भी उनके लेख पाये गये है। किन्तु जिस राज्यत्यागका उल्लेख 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' मे पाया जाता है, वह त्याग ऐसा अल्पकालीन प्रतीत नहीं होता। उस ग्रन्थके भीतर जो भाव भरे है, वे लेखकके स्थायी वैराग्यके परिचायक हैं, और अन्तमें 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' विशेषण लगाया गया है। उससे तो यही ज्ञान पड़ता है कि राजाका इस बारका त्याग क्षणिक नहीं, स्थायी था; उन्होंने विवेकपूर्वक यह त्याग किया था। पर राज्य छोड़कर उन्होंने किया क्या, यह फिर भी अनिश्चित ही रहा। क्या वे गृहस्थ रहकर एकान्तमें धर्मचिन्तन करते रहे, या हिन्दू सन्यासी या जैन मुनि बन गये? पं० नाथूरामजी प्रेमीका मत है कि[1] —

"यह बात अभी विवादापन्न ही है कि अमोघवर्षने राज्यको छोड़कर मुनि-दीक्षा ले ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावककी कोई उत्कृष्ट प्रतिमाका चरित्र ग्रहण कर लिया था। हमारी समझमें यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा ली होती, तो प्रश्नोत्तररत्नमालामें वे अपना नाम 'अमोघवर्ष' न लिखकर मुनि अवस्थामें धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्यका त्याग करनेके समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्षकी थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना संभव प्रतीत नहीं होता।"

उपर्युक्त उपलब्ध प्रमाणोंपरसे यह निष्कर्ष निकालना सयुक्तिक ही है। पर इस विषयके निर्णयके लिये एक और बड़ा प्रमाण उपलब्ध है, जिसकी ओर अभी तक इतिहासज्ञोंका

1 विद्वद्रत्नमाला, पृ० ८४।

पूर्ण ध्यान नहीं गया। अमोघवर्ष नृपका उल्लेख महावीराचार्यने भी अपने गणितसार-संग्रहमें किया है और इस उल्लेखकी सूचना उपर्युक्त समस्त इतिहासज्ञोंके लेखोंमें पाई जाती है। किन्तु गणितसारसंग्रहके पूरे उल्लेखका किसीने अभीतक गंभीर अध्ययन नहीं किया, और इसीलिये उससे उपर्युक्त विषय पर जो प्रकाश पड़ना चाहिए था वह अभी तक नहीं पड़ सका। अब हम यहाँ महावीराचार्य द्वारा गणितसार-संग्रहमें दी हुई अमोघवर्षकी प्रशस्तिका परिचय कराते हैं।

गणितसारसंग्रहके प्रारंभमें मंगलाचरण है जिसमें प्रथम पद्यमें अलंघ्य, त्रिजगत्सार, अनन्तचतुष्टयके धारी महावीर जिनेन्द्रको नमस्कार किया गया है। दूसरे पद्यमें उन महाकान्तिधारी जैनेन्द्रको प्रणाम किया गया है, जिन्होंने स्याद्वादके ज्ञानरूपी प्रदीपसे समस्त जगत्को प्रकाशित कर दिया है। तीसरेसे आठवें पद्य तक अमोघवर्षकी प्रशस्ति है, जो इस प्रकार है—

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः ।
श्रीमताऽमोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥१॥
पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि ।
भस्मसाद्भावमीयुस्तेऽवन्ध्यकोपोऽभवत्ततः ॥२॥
वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानुवशः परैः ।
नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः ॥३॥
यो विक्रमक्रमाक्रान्तचक्रिचक्रकृतक्रियः ।
चक्रिकाभञ्जनो नाम्ना चक्रिकाभञ्जनोऽञ्जसा ॥४॥
यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः ।
रत्नगर्भो यथाख्यातचारित्रजलधिर्महान् ॥५॥
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः ।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥६॥

इस प्रशस्ति पर विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखकने यहाँ अमोघवर्षकी राजवृत्तिके साथ-साथ द्व्यर्थक विशेषणों द्वारा उनकी मुनिवृत्तिका वर्णन किया है। यही नहीं, किन्तु अन्त तक जाते-जाते राजवृत्ति वर्णन बहुत गौण और मुनिवृत्ति वर्णन ही प्रधान हो गया है। प्रथम पद्यमें अमोघवर्ष प्राणी रूपी सस्यसमूहको संतुष्ट व निरीति और निरवग्रह

करनेवाले और स्वेष्टहितैषी कहे गये है। यहाँ राजाके ईति-निवारण और अनावृष्टिकी विपत्तिके निवारणके साथ-साथ सब प्राणियोंकी ओर अभय और राग-द्वेष-रहित वृत्तिका उल्लेख है। इस प्रकार वे आत्मकल्याणपरायण हो गये थे, यह 'स्वेष्टहितैषिणा' विशेषणसे स्पष्ट है। दूसरे पद्यमें उनके पापरूपी शत्रुओंका उनकी चित्तवृत्तिरूपी तपोज्वालामें भस्म होनेका उल्लेख है। राजा अपने शत्रुओंको अपने क्रोधकी अग्निमें भस्म कर डालता है; इन्होंने कामक्रोधादि अंतरग शत्रुओंको कषायरहित चित्तवृत्तिसे नष्ट कर दिया था। वे 'अवन्ध्य कोप' हो गये थे, उनके क्रोधकषायका बन्ध नहीं रहा था। तीसरे पद्यमें उनके समस्त जगत्को वशीभूत करने, किन्तु स्वयं किसीके वशीभूत न होनेसे उन्हें 'अपूर्व मकरध्वज' कहा है। यहाँ भी उनके चक्रवर्तित्वकी अपेक्षा उनके समस्त इन्द्रियें व सासारिक भावनाओंको जीतकर वीतरागत्व प्राप्त कर लेनेकी ओर विशेष लक्ष्य है। चौथे पद्यमें उनकी एक 'चक्रिकाभञ्जन' पद्वीकी सार्थकता सिद्ध की है। राजमंडलको वश करनेके अतिरिक्त यहाँ स्पष्टत. उनके क्रमशः तपस्यावृद्धि द्वारा ससारचक्र परिभ्रमणका क्षय करनेका उल्लेख है। पाँचवें पद्यमें उनकी विद्या-प्राप्ति और मर्यादाओंकी वज्रवेदिका द्वारा उनके ज्ञानवृद्धि और महाव्रतोंके परिपालनका उल्लेख किया गया है। 'रत्नगर्भ' विशेषणसे स्पष्टत' उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारणका भाव प्रकट किया गया है। उनके 'यथाख्यात चारित्रके जलधि' विशेषणमें तो निस्संशय रूपसे उनके पूर्णमुनि और उत्कृष्ट ध्यानी होनेका वर्णन है। 'यथाख्यात-चारित्र' जैन सिद्धातकी एक विशेष संज्ञा है। जो मुनि सकल चारित्रको धारण करके भावोंकी विशुद्धि-द्वारा मनस्त कषायोंको शांत या क्षीण कर देता है, उसे ही यथाख्यातचारित्रका धारी कहते हैं। इस पद्यमें तो अमोघवर्षके मुनित्वके वर्णन होनेमें कोई सदेह ही नहीं रहता। अंतिम पद्यमें उनके एकात छोड़कर अनेकात-स्याद्वादन्यायका अवलम्बन करनेका स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे नृपतुंग-देवके शासन अर्थात् धर्मशासनकी वृद्धिकी आशा की गई है।

इस प्रकार इस प्रशस्तिसे कोई संदेह नहीं रहता कि राष्ट्रकूट-नरेश नृपतुंग अमोघवर्षने राज्य त्याग कर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी और उन्होने अपनी चित्तवृत्तिको विशुद्ध और निर्मल बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा था।

अब रह जाती है प्रेमीजीकी यह शका कि यदि उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली थी, तो फिर उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं बदला ? पर यह आवश्यक नहीं है कि मुनिदीक्षा

लेने पर नाम अवश्यही बदलना चाहिये। विशेषत जब इतना बड़ा सम्राट् दीक्षा लेता है, तो उसके पूर्व नामके साथ जो यश और कीर्ति सम्बद्ध रहती है, उसकी रक्षार्थ लोग उसके उसी नामको कायम रखना पसद करेंगे ही। इसी कारण मौर्यनरेश चद्रगुप्तका नाम उनके मुनि हो जाने पर भी चद्रगुप्त ही कायम रहा पाया जाता है। अतएव प्रश्नोत्तर रत्नमालिकामें उसके लेखकका राज्यत्याग और दीक्षाधारणके पश्चात् भी यदि अमोघवर्ष नाम उल्लिखित किया गया है, तो कोई आश्चर्यका बात नहीं।

अमोघवर्षके वृद्धत्वके कारण उनके दीक्षा ग्रहण करनेकी असभावना भी प्रबल नहीं है। राज्य छोडनेके समय अमोघवर्ष वृद्ध तो थे, पर ८० वर्ष के नहीं। उनके शक ७८८ के ताम्रपत्रमें उल्लेख है कि उनके पिता गोविन्दराज जब अपनी उत्तर भारतकी विजय पूर्ण कर चुके थे, तब अमोघवर्षका जन्म हुआ था। गोविन्दराजकी उत्तर भारतकी विजयका काल सन ८०६ से ८०८ तक सिद्ध होता है। अतएव जब वे सन् ८१४-८१५ में सिंहासनारूढ हुए, तब उनकी अवस्था केवल ६ वर्षकी[1] और जब सन् ८७७ के लगभग उन्होंने राज्य त्यागा, तब उनकी आयु ७० वर्षसे कुछ कमकी ही सिद्ध होती है। इस समय तक जिनसेनाचार्य और सभवत उनके शिष्य गुणभद्रका स्वर्गवास हो चुका था, इसीसे उनकी किन्हीं भी प्रशस्तियोंमें उनके मुनि होनेका उल्लेख नहीं आ सका। महावीराचार्यने अपना गणितसारसग्रह अमोघवर्षके दीक्षा ग्रहण कर लेनेके और उनके जीवनकालके भीतर ही किसी समय लिखा होगा।

श्रीयुक्त एम गोविन्द पै ने अपने एक लेखमें[2] प्रकट किया है कि अमोघवर्षके जैनधर्म स्वीकार करने सबधी सभी आधार निर्मूल मालूम पडते है। इस सबधमें उनका प्रथम आक्षेप यह है कि उक्तनरेशके "५२ वें वर्षके शासनमें 'स वोऽव्यात्' इस प्रकारका हरि-हर-स्तुति सबधी शिरोलेख रहनेसे तब तक उनने जैनधर्मको ग्रहण नहीं किया था, एसा कहनेमें कोई आक्षेप नहीं दीखता।" किन्तु एक तो इस उल्लेख परसे उक्त नरेशके ५२ वें वर्षके पश्चात् जैनदीक्षा ग्रहण करनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। और दूसरे शासन शिरोलेख आदि राज्यकर्मचारियों द्वारा प्राय राज्य विभागकी परम्परानुसार लिखे जाते है, वे सर्वत्र किसी राजाकी निजी धार्मिक मनोवृत्तिके सच्चे परिचायक नहीं कहे जा सकते।

---

१ Altekar The Rashtrakutas and their times P 71 72

२ तुगरत्नका मतविचार, अनेकान्त, वर्ष ३, पृ० ३०८ आदि।

पै जीका दूसरा आक्षेप यह है कि उत्तरपुराणमें जो अमोघवर्षके जिनसेनकी वन्दनाका उल्लेख है वह "जिनसेन और अमोघवर्षके बीचमें एक समय परस्पर भेंटका वर्णन मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा अर्थ उसमें अनुमान करना ठीक नहीं मालूम होता।" पार्श्वाभ्युदय-की जिन सर्गान्त पुष्पिकाओंमें जिनसेनको अमोघवर्ष राजाका परमगुरु कहा है, वे पुष्पिकाएँ उनके मतमें जिनसेनकी स्वयं रचना न होकर "उस काव्यके टीकाकार योगिराट् पंडिताचार्य द्वारा या और किसीके द्वारा जोड़ी गई होंगी।" गणितसारसंग्रहमें उसके कर्ता-द्वारा ग्रन्थका रचनाकाल नहीं दिया गया, इससे यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि वहाँ उल्लिखित अमोघवर्षसे उपर्युक्त नरेशका ही तात्पर्य है, क्योंकि "अमोघवर्ष-नृपतुंग उपाधियोंसे युक्त नरेश बहुतसे हो गये हैं। अगर यह वही राजा माना तो भी उक्त उल्लेखसे उसका जैनधर्मका स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता। प्रश्नोत्तररत्नमालिकाकी जो अमोघवर्षके राज्यत्यागका उल्लेख करनेवाली अन्तिम पुष्पिका है वह शेष काव्यके छंदसे भिन्न छंदमें होनेके कारण काव्यका मौलिक अंश न होकर पीछेसे जोड़ा हुआ छंद हो सकता है।" इत्यादि। पै जीके ये सब आक्षेप तभी कुछ सार्थकता रखते हैं जब पहलेसे ही यह निश्चय कर लिया जाय कि अमोघवर्षने कभी जैन धर्म ग्रहण नहीं किया था। यदि एकाध ही उल्लेख अमोघवर्षके जैनत्वके संबधका होता तो भी उक्त प्रकार की आपत्ति कुछ मूल्यवान् हो सकती थी। पर अनेक ग्रन्थोंके उल्लेखोंको उक्त प्रकार विना किसी आधारके, केवल शक पदसे ही अप्रमाण ठहराना उचित नहीं जंचता। अमोघवर्षके जैनत्वकी मान्यताकी प्राचीनता और मौलिकताको असिद्ध करनेमें कोई प्रबल दलील पै जीके लेखमें नहीं पाई जाती। अमोघवर्ष संबंधी समस्त उल्लेखों परसे उनके जैनत्व स्वीकार करनेमें कोई ऐति-हासिक विसंगति उत्पन्न नहीं होती।

# "मोक्षमार्गस्य नेतारम्"

[ ले०—श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी ]

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥' —सर्वार्थसिद्धि

यह श्लोक सर्वार्थसिद्धि के मङ्गलश्लोक के रूप में उपलब्ध है। आचार्य विद्यानन्द ने अपनी आप्तपरीक्षा इसी श्लोक में वर्णित आप्तस्वरूप के परीक्षण के लिए बनाई है। आप्तपरीक्षा के अन्त में स्वयं लिखते हैं—

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत् ।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥"

अर्थात्—जो दीप्त रत्नों के उद्भव का स्थान है, उस अद्भुत समुद्र के समान तत्त्वार्थशास्त्र के प्रोत्थानारम्भकाल—उत्पत्ति का निमित्त बताते समय या प्रोत्थान भूमिका बाँधने के प्रारम्भकाल में शास्त्रकार ने जो स्तोत्र रचा और जिस स्तोत्र में वर्णित आप्त की स्वामी (समन्तभद्राचार्य) ने मीमांसा की, उसकी मैं यथाशक्ति परीक्षा कर रहा हूँ।

अष्टसहस्री के मङ्गलश्लोक में भी आचार्य विद्यानन्द यही बात लिखते हैं—"शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य"—अर्थात् शास्त्र—तत्त्वार्थशास्त्र के अवतार अवतरणिका भूमिका के समय रची गई स्तुति में वर्णित आप्त की मीमांसा करनेवाले आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ का व्याख्यान किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रावतार' शब्द आप्त

---

नोट—जैन-बोधक वर्ष ४८ संख्या ३, में व्याख्यानमहाविद्वान् श्रीमान् पं० शान्तिराजजी शास्त्री मैसूर का 'किमर्थं तत्त्वार्थसूत्रप्रथमसूत्रमङ्गलश्लोकः ?' शीर्षक वाला एक संस्कृत लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में शास्त्रीजी ने "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥" इस मंगलश्लोक को सूत्रकार उमास्वाति का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। न्यायाचार्यजी का यह लेख उसी का प्रत्युत्तर है। जिन विद्वानों ने जैन-बोधक में शास्त्रीजी के उपर्युक्त लेख को पढ़ा है उन्हें न्यायाचार्यजी के इस लेख को भी अवश्य पढ़ लेना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि प्रकृत विषय में अन्य विद्वान् भी इस विषय पर अपना अपना मत अवश्य प्रकट करेंगे।

—पं० भुजबली शास्त्री

परीक्षा के "प्रोत्थानारम्भकाल" का समानार्थक है। विद्यानन्द के इन उल्लेखों से निम्नलिखित बातों का स्पष्ट सूचन होता है—

१ आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक में वर्णित आप्त की परीक्षा के लिए लिखे जा रहे हैं।

२ इसी श्लोक में वर्णित आप्त की मीमांसा स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्त-मीमांसा में की है।

३ यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बताते समय, या उसकी अवतरणिका-भूमिका बांधते समय शास्त्रकार ने बनाया है।

तीसरी बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन शास्त्रकार ने तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बताया या उसकी उत्थानिका-भूमिका या अवतरणिका बांधी, उसी शास्त्रकार ने इस भूमिका के प्रारम्भ मे इस मङ्गलमय स्तोत्र को रचा है। यहाँ यदि यह तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र है, तो उसकी उत्पत्ति का निमित्त बतानेवाले या भूमिका-अवतरणिका बांधनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। इन्होंने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में ही तत्त्वार्थसूत्र का उत्पत्तिनिमित्त बताया है। और उसी भूमिका के प्रारम्भ में इस जैन वाङ्मय के अमररत्नरूप मङ्गल श्लोक को रचा है।

इस तरह विद्यानन्द के उक्त उल्लेख हमें इस स्पष्ट परिणाम पर पहुँचा देते हैं कि उक्त मङ्गलश्लोक आचार्य पूज्यपाद के द्वारा तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका बाँधते समय सर्वार्थसिद्धि के मङ्गलरूप मे रचा गया है।

वस्तुतः यह मङ्गलश्लोक, आचार्य पूज्यपाद ने ही बनाया है। निम्नलिखित कारणों से यह स्तोत्र स्वयं सूत्रकार उमास्वाति का तो नहीं मालूम होता—

१ जहाँ तक प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ देखने मे आए हैं, उनमें कहीं भी मङ्गलाचरण करने की पद्धति नही है।

२ यदि यह सूत्रकार-कृत होता, और तत्त्वार्थसूत्र का ही अङ्ग होता, तो उसकी व्याख्या करनेवाले पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्द आदि आचार्यों ने अपने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि व्याख्या-ग्रन्थों में इसका व्याख्यान या निर्देश अवश्य किया होता।

३ यदि पूज्यपाद ने स्वयं इसे नहीं बनाया होता और वे इसे सूत्रकारकृत समझते होते तो वे सर्वार्थसिद्धि में इसका व्याख्यान अवश्य करते।

४ सर्वार्थसिद्धि पर प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण नाम का एक विवरण उपलब्ध है। इसमें इस मङ्गलश्लोक को सर्वार्थसिद्धि का मानकर उसका यथावत् व्याख्यान किया है।

५ तत्त्वार्थसूत्र थोड़े बहुत हेर फेर के साथ श्वेताम्बर परम्परा में भी मान्य है। उस पर एक स्वयं सूत्रकार का स्वोपज्ञ भाष्य भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि, हरिभद्र यशोविजय उपाध्याय आदि आचार्यों ने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। इन सभी व्याख्याओं में इस मङ्गलस्तोत्र का उल्लेख तक नहीं है। यदि यह स्वयं उमास्वाति कृत होता, तो कोई कारण नहीं था कि इन श्वेताम्बर व्याख्याओं में न पाया जाता। इस श्लोक में कोई भी ऐसी साम्प्रदायिक वस्तु नहीं है, जिससे साम्प्रदायिकता के कारण इसके छोड़ने का प्रसङ्ग आता। यदि इन प्राचीन आचार्यों को यह ज्ञात होता कि यह श्लोक सूत्रकार का है, तो वे इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्न को कभी भी नहीं छोड़ते। वे इसपर व्याख्या करते और स्वतन्त्र ग्रन्थ तक रचते।

इत्यादि कारणों से यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह श्लोक स्वयं सूत्रकार-कृत नहीं है, किन्तु पूज्यपाद कृत है।

परन्तु विद्यानन्द आचार्य ही आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भ में इसी श्लोक को सूत्रकार कृत लिखते हैं—'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते— मोक्षमार्गस्य नेतारम् " इस पंक्ति में यही श्लोक सूत्रकार कृत कहा गया है। पर जब हम विद्यानन्द की लेखन शैली का ध्यान से समीक्षण करते हैं तब यह उलझन सुलझ जाती है। आचार्य विद्यानन्द की शैली की यह विशेषता है कि वे अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य को सूत्रकार और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ को सूत्र लिखते हैं। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेव का सूत्रकार शब्द से तथा राजवार्तिक का सूत्र शब्द से उल्लेख करते हैं—"तत्र 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत् सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।" इस अवतरण में 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्यायविनिश्चय (पृ० ३) का है। आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में ही वे "तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः" शब्द लिखकर न केवल उमास्वामी को ही सूत्रकार लिखते हैं। अपि तु प्रभृतिशब्द से अन्य पूज्यपाद आदि आचार्यों का भी सूत्रकार होना सूचित करते हैं। अतः मात्र सूत्रकार के नाम से 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक को उद्धृत करने के कारण विद्यानन्द का झुकाव उसे उमास्वातिकृत मानने की ओर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो विद्यानन्द राजवार्तिक को सूत्र तथा अकलङ्क को भी सूत्रकार लिख सकते हैं, वे यदि सर्वार्थसिद्धिकार को सूत्रकार लिखते हैं, तो कोई अनहोनी या आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि

तो राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक के लिए आधारभूत सूचनाकारिणी होने से सूत्रकल्प ही रही है। एक बात और खास तौर से ध्यान देने की है कि विद्यानन्द आप्तपरीक्षा बनाने से पहिले अपने श्लोकवार्तिक और विद्यानन्दमहोदय ग्रन्थों की रचना कर चुके हैं; क्योंकि आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में उन्होंने इनके देखने की प्रेरणा की है। यदि विद्यानन्द इस मङ्गल-श्लोक को सूत्रकार उमास्वातिकृत मानते होते, तो उसकी व्याख्या श्लोकवार्तिक में अवश्य करते। अतः विद्यानन्द का मत इस श्लोक को उमास्वातिकृत मानने की ओर नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आप्तपरीक्षा के अन्त में आए हुए—

"इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥"

इस अनुष्टुप श्लोक में 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पद 'प्रोत्थानारम्भकाले' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ३२ अक्षरवाले इस छोटे से श्लोक में इससे अधिक की गुंजाइश ही नहीं है। 'तत्त्वार्थ-शास्त्रादौ' का अर्थ भी 'तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका के प्रारम्भ में' यही करना चाहिए। इस तरह आचार्य विद्यानन्द के उल्लेख तथा पूज्यपाद आदि आचार्यों के द्वारा उक्त श्लोक की व्याख्या न होने के कारण इस मङ्गलश्लोक को उमास्वाति-कृत किसी भी तरह नहीं माना जा सकता। यह श्लोक निर्विवादरूप से तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका बाँधनेवाले, आचार्य पूज्यपाद के द्वारा ही बनाया गया है और सर्वार्थसिद्धि में बराबर उसी रूप में उपलब्ध है। यही कारण है कि स्वयं पूज्यपाद तथा अन्य अकलङ्क आदि दिगम्बर आचार्य तथा सिद्धसेनगणि आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने इसको तत्त्वार्थसूत्र का अङ्ग नहीं माना और न इसकी व्याख्या ही की है। श्वे० परम्परा में प्रसिद्ध स्वोपज्ञभाष्य में भी इसकी व्याख्या नहीं है। इस भाष्य में तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रारम्भ में ३१ सम्बन्धकारिकाएँ हैं। यदि इस श्लोक को उमास्वाति ने बनाया होता, तो भाष्य में छूटने का कोई भी कारण नहीं है।

नहीं मालूम, श्रुतसागरसूरि (१६वीं सदी), बालचन्द्र योगीन्द्रदेव आदि १५-१६ वीं सदी के व्याख्याकारों ने किस परम्परा के आधार से इस मङ्गलश्लोक को उमास्वामि-कृत लिख दिया है। हो सकता है कि सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में उसे देखकर उन्होंने सूत्रकार-कृत मान लिया हो।

विद्यानन्द के उल्लेखानुसार जो दूसरी बात सूचित होती है वह यह है कि इसी श्लोक पर स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, यह इतिहासज्ञों के खास ध्यान देने योग्य है। इस उल्लेख में यदि ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो समन्तभद्र का समय पूज्यपाद के अनन्तर नहीं तो समकाल तक तो अवश्य सिद्ध होगा। ऐसी दशा में जैनेन्द्र व्याकरण में आये हुए 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्र में यदि इन्हीं समन्तभद्र का उल्लेख है, तो समन्तभद्र

को पूज्यपाद का समकालीन मानकर ही निर्वाह किया जा सकेगा। श्रीमान् पंडित सुखलाल जी सा० का इस विषय में यह तर्क† "कि यदि समन्तभद्र पूज्यपाद के पूर्ववर्ती होते, तो समन्तभद्र की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृति का उल्लेख अपनी सर्वार्थसिद्धि आदि कृतियों में किए बिना न रहते" हृदय को लगता है। विद्यानन्द के 'स्वामिमीमांसित तत्' "प्रपञ्चतस्तत्त्रयस्य आक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रदेवैः देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।" (आप्त प० पृ० ६४)। आदि उल्लेखों के प्रकाश में तो वह पर्याप्त पुष्टि पा लेता है। आशा है समन्तभद्र स्वामी के समय विचार में इसका पूरा पूरा उपयोग किया जायगा।

† देखो अकलङ्कग्रन्थत्रय और न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग का प्राक्कथन।

नोट—व्याख्यानमहाविद्वान् पं० शान्तिराजजी शास्त्री ने 'जैन-बोधक' में इस विषय को लेकर पं० भुजबली जी शास्त्री पर अनेक अनुचित एवं निर्मूल व्यक्तिगत आक्षेप कर डाले हैं। कहीं-कहीं तो उनकी भाषा शिष्टता को भी लांघ गई है। मेरे विचार से ऐसी बातों की उपेक्षा करना ही उनका सर्वोत्तम उत्तर है। पं० भुजबलीजी शास्त्री की साहित्यसेवाएँ किसी से छिपी नहीं हैं। 'भास्कर' का संपादन ही इसका ज्वलंत उदाहरण है। व्याख्यान महाविद्वान्जी ने इस ऐतिहासिक प्रसङ्ग को लेकर बाबू निर्मलकुमारजी आदि को उभाड़ने का जो प्रयत्न किया है, वह सहृदय विद्वत्समष्टि की दृष्टि में अशोभन है। इससे उनके उद्देश की सिद्धि तो हो ही नहीं सकती। हाँ हृदय की कमजोरी का प्रदर्शन अवश्य हो जाता है। मैं आशा करता हूँ कि सभी विद्वान् ऐतिहासिक या तात्त्विक चर्चा को व्यक्तिगत आक्षेपों से सर्वथा अलिप्त रखने का पूरा प्रयत्न करेंगे। आशा है पं० भुजबली जी शास्त्री इस व्यर्थ की तू-तू मैं-मैं में न पड़ेंगे।

—लेखक

# हमारा आयुर्वेद

[ ले०—श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण ]

जर्मनी, अमेरिका और इंगलैण्ड आदि पश्चिम राष्ट्रों के विख्यात विद्वान् भी अब मानने लगे हैं कि संसार भर की चिकित्सा-प्रणालियों का जन्मदाता हमारा आयुर्वेद ही है। अपने दीर्घकालीन अविश्रान्त अनुसंधान के फलस्वरूप इतिहास-विशारदों का भी कहना है कि सर्वप्रथम बौद्धों ने चरक एवं सुश्रुत इन महान् ग्रन्थों का अनुवाद पाली भाषा में करके जापान और चीन देशों में फैलाया तथा आज भी उन देशों की चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद-चिकित्सा-पद्धति से मिलती-जुलती है। इतना ही नहीं, अरबी भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में भी अनेकत्र उल्लिखित चरकसुश्रुतों का उल्लेख दृष्टि-गोचर होता है।

आयुर्वेदीय औषधों को ढूंढ निकालने वाले हमारे जितेन्द्रिय, समदर्शी ऋषि-महर्षियों ने जंगलों में वास करते हुये केवल लोकहित के लिये इस ओर गम्भीर विचार के साथ विपुल परिश्रम किया है। निर्दोष, चमत्कारी एवं अधिक लाभकारी विशिष्ट औषधों को निर्माण करने के लिये स्वार्थ-शून्य विचार अधिक आवश्यक है। आयुर्वेद, ज्योतिष और मन्त्रवाद आदि विद्याएं वास्तव में लोककल्याण के लिये ही पैदा हुई हैं। आजकल के चिकित्सकों में उपर्युक्त वे गुण बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। इसीलिये आज हमारे आयुर्वेद की दशा इतनी गिर गई है। एक बात और है। आज हमारे आयुर्वेद-विद्वानों में इस विषय में परिपूर्णता प्राप्त कर नवीन नवीन आविष्कारों द्वारा आयुर्वेद के महत्त्व को संसार में प्रकट करने योग्य पण्डित भी नहीं हैं। आजकल की आयुर्वेदाध्ययन की प्रणाली भी इस युग के अनुकूल नहीं है। अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों में हमें प्रतिदिन नये-नये सुधार दृष्टिगत हो रहे हैं। परन्तु खेद की बात है कि हमारे बहुत से आयुर्वेदज्ञ अभी तक चरक-सुश्रुत युग का ही स्वप्न देख रहे हैं। ये सुधार नहीं चाहते हैं। अनुसंधान की ओर तो इनका लक्ष्य ही नहीं जाता। इसमें सन्देह नहीं है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों के प्रयोगों को ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर अपने नाम से रजिष्ट्री कराने वाले वैद्य काफी मिलेंगे। किन्तु वास्तव में यह चीज उनकी नहीं है। इस गुरुतर लोकोपकारी विद्या के लिये पसीना बहाने वाले हमारे यहाँ बहुत कम हैं। इसीलिये आज आयुर्वेद की अवस्था इतनी दयनीय हो गई है।

बहुधा बहुमूल्य एलोपैथिक औषध, सुई (इंजेक्शन) आदि के द्वारा आराम नहीं होने वाले सन्निपात, विषम ज्वर, क्षय, प्रसूत, संग्रहणी, मधुप्रमेह आदि असाध्य रोगों को हमारे पूर्वजों के द्वारा हजारों वर्ष के पूर्व ढूंढ़ निकाले गये मकरध्वज, जयमङ्गलरस, च्यवनप्राश, वसन्ततिलक एवं सुवर्णभस्म आदि अमूल्य औषध आसानी से दूर कर सकते हैं। आज भी विशुद्ध विष किस रोगी को किस परिमाण में देना चाहिये, इस बात का विशद ज्ञान बड़े

बड़े सर्जनों की अपेक्षा एक भारतीय वैद्य अधिक रखता है। इस संबध में हमारे पूवजों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। आयुर्वेद में नाडीज्ञान तो अपना एक खास स्थान रखता है। इस संबध में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित आयुर्वेदपंचानन प० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के द्वारा लिखित भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता—नाडी परीक्षा - शीर्षक लेख अवश्य पठनीय है। चरकसुश्रुतसदृश बहुमूल्य चिकित्सासंबधी ग्रन्थ प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सा साहित्य में एक भी उपलब्ध नहीं है। इसीलिये प्रो० विल्सन, सर विलीयम हंटर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय शल्यचिकित्सा, रसायनशास्त्र, धातुशास्त्र, सूचिकाभेदन, सर्पचिकित्सा, पशुचिकित्सा आदि विषयों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली को ही समाज की आदिम चिकित्सा प्रणाली माना है।

हमारे पूर्वज शल्यचिकित्सा में पूर्ण निष्णात थे इस बात को प्रमाणित करने के लिये मैं राय बहादुर महामहोपाध्याय श्रीमान् गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' से कुछ अंश यहां पर उद्धृत किये देता हूँ। इससे शायद हमारी उन्नति प्राप्त प्राचीन शल्य चिकित्सा से अनभिज्ञ वर्तमान *प्रगतिशील पाश्चात्य शल्यचिकित्सा* के अनन्य भक्त भारतीय विद्वानों की आँखें खुलेंगी। हाँ, मैं इस संबध में इतना और कह देना चाहता हूँ कि जो प्राचीन शल्यचिकित्सा के विषय में विशेष देखना चाहें वे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग ८, अंक १, २ में प्रकाशित 'प्राचीन शल्यतन्त्र' शीर्षक लेख अवश्य देखें।

"चीर फाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाए जाते थे, परन्तु राजा एवं सम्पन्न लोगों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे। यन्त्रों के लिये लिखा है कि वे तेज खुरदरे, परन्तु चिकने मुखवाले, सुदृढ़ उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिये। भिन्न भिन्न कार्यों के लिये शस्त्रों की धार, परिमाण आदि भिन्न भिन्न होते थे। शस्त्र कुंठित न हो जाय, इसलिये लकड़ी के शस्त्रकोश (cases) भी बनाए जाते थे, जिनके ऊपर और अन्दर कोमल रेशम या ऊन का कपड़ा लगा रहता था। शस्त्र आठ प्रकार के—छेद्य, भेद्य, वेध्य (शरीर के किसी भाग में से पानी निकालना), एष्य (नाड़ी आदि में व्रण का ढूँढना), आहार्य (दाँत या पथरी आदि का निकालना), विस्राव्य (रुधिर का निस्रवण करना), सीव्य (दो भागों को सीना), और लेख्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना)—हैं। सुश्रुत ने यन्त्रों (औजार जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है, परन्तु वाग्भट्ट ने ११५ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, इसलिये यन्त्र संख्या भी अनिश्चित है, वैद्य अपने आवश्यकतानुसार यन्त्र बना सकता है। शस्त्रों की संख्या भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न मानी है। इन यन्त्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी उन ग्रन्थों में दिया है। अर्श, भगंदर योनिरोग, मूत्रदोष, आर्त्तवदोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिये भिन्न भिन्न यन्त्र

प्रयुक्त होते थे। व्रणवस्ति, वस्तियंत्र, पुष्पनेत्र, (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिये), शलाका-यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजननशंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने के लिये), सर्प-मुख (सीने के लिये) आदि बहुत से यन्त्र हैं। व्रणों और उदरादि संबंधी रोगों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बांधने का भी वर्णन किया गया है। गुदभ्रंश के लिये चर्मबंधन का भी उल्लेख है। मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के लिये प्रयोग में आते थे। दूषित रुधिर निकालने के लिये जोंक का भी प्रयोग होता था। जोंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विषैली है अथवा नहीं। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखन कर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था। गति व्रण (Sinus) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ट आदि में प्रयोग होता था। आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिये जिस तीन-चार सुइयों वाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है। वर्तमान काल का (Tooth-elevator) पहले दंत-शंकु के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे। दाँत उखाड़ने के लिये एनीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतियाबिंद (Cataract) के निकालने के लिये भी शस्त्र था। कमलनाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिये होता था, जो आजकल के (Stomach Pump) का कार्य देता था।" [ पृष्ठ १२०—१२२ ]

इसी प्रकार भारतीय प्राचीन सर्पचिकित्सा और पशुचिकित्सा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। सिकन्दर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सब को भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया।* दाहक्रिया एवं उपवास चिकित्सा से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे। शोथरोग में नमक न देने की बात भी भारतीय चिकित्सक हजार वर्ष पूर्व जानते थे। हमारे पूर्वजों का निदान उच्चकोटि का था। 'माधवनिदान' आज भी संसार में अपना खास स्थान रखता है। शुद्ध जल का संग्रह और व्यवहार कैसे किया जाय, औषध द्वारा कुओं का पानी साफ करना, महामारी फैलने पर कृमिनाशक औषधों के द्वारा स्वच्छता रखना आदि बातों का उल्लेख 'मनुस्मृति' में स्पष्ट मिलता है। आयुर्वेद में शरीर की बनावट, भीतरी अवयवों, मांसपेशियों, पुट्ठों, धमनियों और नाड़ियों का भी विशद वर्णन उपलब्ध होता है। वैद्य निघंटुओं में खनिज, वनस्पति और पशुचिकित्सा-संबंधी औषधों का बृहद् भाण्डार है। भारतीय आयुर्वेद-विशारदों को शरीर-विज्ञान का ज्ञान भी पर्याप्त था। अन्यथा वे स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि की चित्ताकर्षक मूर्त्तियों को नहीं बना सकते थे। भारतीयों का रसायनिक ज्ञान आशातीत

---

* वाइज; हिस्ट्री आफ मैडिसिन; पृष्ठ ६

विस्मयकारक था। ये गंधक, शोरा आदि के तेजाब (Acid) जस्ता, लोहा, सीसा आदि के ऑक्साइड (Oxide) तथा कारबोनेट और सल्फाइड आदि तैयार करते थे। इन रसायनों के द्वारा ये निराश रोगियों को पुनः स्वस्थ एवं वृद्धों को जवान बनाते थे। सूर्य की किरणें रोगोत्पादक कीटाणुओं को नष्ट करती हैं इस बात को भारतीय पहले ही से जानते थे। श्वासरोग के लिये धतूरे का धुआँ पीने की विधि यूरोपियनों ने भारतीयों से ही सीखी है। 'विज्ञमधु' ५, अगस्त १९३४ के एक विद्वत्तापूर्ण लेख में लाहौर के कविराज श्रीहरिकृष्ण सहगल ने इस बात को सिद्ध कर दिखा दिया है कि हाल में अमेरिका में पुरुषसंयोग के बिना ही जिन पिचकारियों द्वारा स्त्री गर्भवती बनाई गई है, उन पिचकारियों का उद्गम स्थान भारतवर्ष ही है। भारतीय रसायन के द्वारा कृत्रिम सुवर्ण बनाना भी भली भाँति जानते थे। इन सब बातों का विशद वर्णन इस छोटे वक्तव्य में नहीं हो सकता है। इस संबंध में अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों को The Ayurvedic System of Medicine by Kaviraj Nagendra Nath Sen, A History of Hindu Chemistry by Praphulla Chandra Roy The Positive Sciences of the Ancient Hindus by Brajendra Nath Seal आदि पुस्तकों को अवश्य पढ़ना चाहिये।

संसार में जीवन से बढ़ कर प्यारी वस्तु दूसरी नहीं है। यही कारण है कि क्षुद्र से क्षुद्र कृमि-कीट से लेकर मनुष्य तक एवं जीर्ण रोगी से लेकर तरुण जवान तक सभी इस जीवन रज्जु को अधिक लम्बी करने के उद्योग में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। जिस जीवन से ऐहिक और पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ मिलती हैं उसे दीर्घकाल तक स्वस्थ तथा कार्यक्षम बनाये रखने के लिये ही प्राचीन आर्यों ने आयुर्वेद का अनुसंधान किया था। हिन्दू, जैन एवं बौद्ध इन तीनों भारतीय प्रधान धर्मों के आयुर्वेदीय ग्रन्थों को मिलाने से हमारा आयुर्वेदीय साहित्य बहुत बढ़ जाता है। पूर्व में आयुर्वेद यहाँ की एक सर्वोत्तम विद्या थी। इसीलिये आज भी बड़े बड़े सर्जनों एवं वैद्यों से आराम नहीं होनेवाले कई एक कठिन रोगों को एक देहाती अशिक्षित सामान्य व्यक्ति अच्छा कर देता है। भारत की उर्वरा भूमि ने इसके लिये सर्वत्र बहुमूल्य ओषधियाँ भी जुटा रखी हैं। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हमारे पूर्वजों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि जो व्यक्ति जहाँ पैदा हुआ हो, उसे वहां के ओषधियाँ अधिक लाभकारी होती हैं। इसके लिये वर्तमान एक ही दृष्टांत पर्याप्त है कि कुनाइन सल्फेट आदि ओषध इंगलैंड आदि शीतप्रधान देशों में जितना काम करते हैं, उतना उष्णप्रधान हमारे भारतवर्ष में नहीं कर पाते।*

---

*नोट 'वैद्यसार' के प्रकाशकीय वक्तव्य का एक भाग। —लेखक

# शाकटायन और उनका शब्दानुशासन

[ ले०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ]

## शाकटायन या पाल्यकीर्ति

शाकटायन नामके एक बहुत प्राचीन आचार्य हो गये हैं जिनके मतका उल्लेख पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमे किया है। ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेदके प्रातिशाख्यामें तथा यास्काचार्यके निरुक्तमे भी इनका जिक्र है। इनका समय इतिहासज्ञोंने ईस्वी सन्‌से लगभग एक हजार वर्ष पहले अनुमान किया है* और उनका उल्लेख करनेवाले पाणिनिका साढ़े छह सौ वर्ष पहले*। इन शाकटायनका कोई व्याकरण-ग्रन्थ था जो अब मिलता नहीं है।

परन्तु शाकटायन नामका एक और व्याकरण ग्रन्थ है जिसके कर्त्ता जैन थे। वे भी शाकटायन नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था।

वादिराजसूरि ने अपने 'पार्श्वनाथ-चरित' काव्यमे उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुरुते जनान् ॥

अर्थात्, उस महातेजस्वी पाल्यकीर्तिकी शक्तिका क्या वर्णन किया जाय जिसका 'श्री' पद-श्रवण ही लोगोंको शाब्दिक या व्याकरणज्ञ कर देता है।

शाकटायनकी अमोघवृत्ति नामकी एक स्वोपज्ञ टीका है। उसका आरंभ 'श्रीवीरममृत ज्योतिः' आदि मंगलाचरणसे होता है। वादिराजसूरिने इसी मंगलाचरणके 'श्री' पदको लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति ( शाकटायन ) के व्याकरणका आरम्भ करनेपर लोग वैयाकरण हो जाते है।

पूर्वोक्त श्लोककी टीका आचार्य शुभचन्द्र अपनी 'पार्श्वनाथचरित-पंजिका' मे इस प्रकार करते हैं—"तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायन-सूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनं।" इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजिकाकार शुभचन्द्र पल्यकीर्तिको शाकटायन-सूत्रोंका कर्त्ता मानते थे।

शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रहके मंगलाचरणमें† जिनेश्वरको पाल्यकीर्ति और मुनीन्द्र विशेषण दिये हैं, जो श्लिष्ट हैं। उसके द्वारा एक अर्थमे जिनेश्वरको और दूसरे अर्थमे प्रसिद्ध

---

*—* देखो डा० श्रीपाद कृष्ण वेलवलकरका 'सिस्टिम्स आफ संस्कृत-ग्रामर।'

† मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्। मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे ॥

वैयाकरण पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया है।* शाकटायनकी प्रक्रिया बनाते समय यह सम्भव नहीं कि अभयचन्द्र उसके मूल कर्त्ताको छोड़कर अन्य किसी वैयाकरणको नमस्कार करते। इससे भी शाकटायनका वास्तव नाम पाल्यकीर्ति निश्चित होता है।

## शाकटायन या शब्दानुशासन

स्वयं ग्रंथकर्त्ताने और टीकाकारोंने भी इस व्याकरणका नाम 'शब्दानुशासन' बतलाया है। शाकटायन नाम तो पीछे प्रसिद्ध हुआ जान पड़ता है। जिस तरह कवियोंमें कालिदासकी अधिक प्रसिद्धि होनेके कारण पीछेके अनेक कवि कालिदास कहलाने लगे, उसी तरह बहुत बड़े वैयाकरण होनेके कारण लोग पाल्यकीर्तिको भी शाकटायनाचार्य कहने लगे और उनके व्याकरणको शाकटायन।

## वैदिक शाकटायन प्राचीन हैं

जब सन् १८९३ में मि० गुस्तव आपर्टने 'शाकटायन प्रक्रियासंग्रह' प्रकाशित किया, तब उन्होंने उसकी भूमिकामें बतलाया कि ये वही शाकटायन हैं जिनका उल्लेख पाणिनिने किया है और इसके प्रमाणमें दो चार सूत्र ऐसे भी पेश कर दिये जो वैदिक शाकटायनके उन सूत्रोंसे मिलते-जुलते थे जिनकी चर्चा पाणिनिने की है और अन्तमें यह भी कहा कि ये शाकटायन जैन थे। परन्तु जब उनके कथनपर गहराईसे विचार किया तब वह निस्सार साबित हुआ और अब तो उसपर कोई भी विश्वास नहीं करता है।

## शाकटायन यापनीय थे

शाकटायन या पाल्यकीर्ति किस सम्प्रदायके थे पहले इस विषयमें काफी मत भेद रहा। दिगम्बर सम्प्रदायके लोग पहले उन्हें अपने सम्प्रदायका मानते रहे, क्योंकि उनके यहाँ उनके व्याकरणका काफी प्रचार था और मुनि दयापाल आदि दिगम्बर विद्वानोंने उसपर टीकाग्रन्थ भी लिखे थे। उसके बाद स्व० डाक्टर के० बी० पाठक आदिने श्वेताम्बर बतलाया क्योंकि शाकटायन सूत्रोंमें आवश्यकनिर्युक्ति छेद सूत्र, कालिक सूत्र आदि श्वेताम्बरमान्य ग्रन्थोंका आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है। परन्तु अब यह बिल्कुल निश्चित हो चुका है कि ये इन दोनों सम्प्रदायोंसे पृथक् तीसरे यापनीय सम्प्रदायके थे, जो इन दोनों सम्प्रदायोंके बीचकी चीज था और अब नष्ट हो चुका है। क्योंकि—

१ विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके मलयगिरि नामक श्वेताम्बराचार्यने नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्हें यापनीय यतियोंका अग्रणी लिखा है।†

---

* मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्ति जिनेश्वरम्। मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

† शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह 'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिं सर्ववेधसाम्।' अत्र च न्यासकृतव्याख्या—सर्ववेधसां सर्वज्ञानां सकलशास्त्रानुगतपरिज्ञानानां आदिं प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति—नन्दिसूत्र पृ० २३।

२ यापनीय सम्प्रदाय श्वेताम्बरोंके समान स्त्रियोंका उसी भवमें मोक्ष होना और केवलियोंका आहार करना मानता था जो दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे विरुद्ध है। इन दोनों विषयोंपर शाकटायनका बनाया हुआ 'स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरण' नामका एक छोटा-सा ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।* उसमें स्त्रीमुक्तिपर ५५ और केवलिभुक्तिपर ३४ कारिकायें हैं। इनमें वे सब युक्तियाँ दी गई हैं जो इन बातोंको माननेवालोंकी ओरसे दिगम्बरों के प्रति उपस्थित की जाती हैं। इसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

प्रारम्भ—प्रणिपत्य भुक्तिमुक्तिप्रदममलं धर्ममर्हतो दिशतः।
वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं च सक्षेपात् ॥१॥
अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवद्यदविकलहेतुकं स्त्रीषु।
न विरुद्ध्यते हि रत्नत्रयसम्पन्निवृतेर्हेतु ॥२॥
रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन।
इति वाङ्मात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ॥३॥

अन्त— विग्रहगतिमापन्नाद्यागमवचनं सर्वमेतस्मिन्।
भुक्तिं ब्रवीति तस्माद्द्रष्टव्या केवलिनि भुक्तिः ॥३२॥
नानाभोगाहारो निरन्तरः सो विशेषतो नाभूत (?)
युक्त्या भेदेनाङ्गस्थितिपुष्टिक्षुच्छमास्तेन ॥३३॥
नास्य विशिष्टस्य स्थितिरभविष्यत्तेन सविशिष्टेन।
यद्यभविष्यद्दिहैषां सालीतरभोजनेनेव ॥३४॥

इति स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरणं भगवदाचार्यशाकटायनकृदन्तपादानामिति।

पन्द्रहवीं शताब्दिमें एक विद्वान्ने अपने समयमें उपलब्ध जैनग्रन्थोंकी एक सूची बड़ी खोजके साथ संस्कृतमें लिखी थी। उसमें कौन ग्रन्थ, किस भाषा में, किसने, किस समय, किस विषयपर, कितने परिमाणका लिखा है इसका संक्षिप्त विवरण जहाँ तक उपलब्ध हो सका, दिया है। इस सूचीका नाम बृहट्टिप्पणिका है। उसमें भी इस प्रकरण का विवरण इस प्रकार दिया है—"केवलिभुक्तिस्त्रीमुक्तिप्रकरणम्। शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतं तत्संग्रह-श्लोकाश्च† ९४।"

वादिवेताल शान्तिसूरिने उत्तराध्ययन टीकाके २६ वें अध्यायमें, रत्नप्रभने रत्नाकरावतारिकामें और यशोविजय उपाध्यायने अध्यात्ममतपरीक्षा तथा शास्त्रवार्तासमुच्चयमें इस प्रकरणकी अनेक

* देखो 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग २, अंक ३।

† यह संख्या अनुष्टुप् श्लोकोंके हिसाबसे दी है।

कारिकायें उद्धृत की हैं। इसी तरह आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्री मुक्ति और केवलि भुक्तिका पूर्वपक्ष इसी प्रकरणसे लिया है और इसकी एक एक दलीलका खण्डन किया है।

३ शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें, छेदसूत्र, नियुक्ति, कालिक सूत्र आदि ग्रन्थोंका जिस तरह उल्लेख किया है उससे ऐसा मालूम होता है कि उनके सम्प्रदायमें इन ग्रन्थोंके पठन पाठनका प्रचार था और ये ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं हैं जब कि यापनीयसंघ इन ग्रन्थोंको मानता था।

४ अमोघवृत्तिमें 'उपसर्वगुप्त व्याख्यातार' कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है और ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं जिनके चरणोंमें समीप बैठकर आराधनाके कर्त्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था। और चूँकि शिवार्य भी बहुत करके यापनीय सम्प्रदायके थे अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतलानेवाले शाकटायन भी यापनीय होंगे।

५ शाकटायनको 'श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य' लिखा है और चिन्तामणि टीकाके कर्त्ता यक्षवर्माने तो उन्हें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्' माना है। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार वीर निर्वाण ६८३ वर्षके लगभग ही श्रुतकेवलिया या एकदेशश्रुतकेवलियोंका विच्छेद हो गया था। अतएव उनका श्रुतकेवलिदेशीय होना यापनीयसंघकी मान्यताके अनुसार ही ठीक बैठ सकता है।

## शाकटायन की रचनायें

शाकटायनकी इस समय तीन ही रचनायें उपलब्ध हैं, शब्दानुशासनका मूल सूत्रपाठ, उसकी अमोघवृत्ति और ऊपर जिसका जिक्र आ चुका है, वह 'स्त्रीमुक्तिकेवलिभुक्तिप्रकरण'। इनके सिवाय संस्कृतके सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखरने अपनी काव्य मीमांसामें पाल्यकीर्तिके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—"*यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्तातु* रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते, इति पाल्यकीर्तिः।" इससे मालूम होता है कि पाल्यकीर्ति या शाकटायनका कोई साहित्य विषयक ग्रन्थ भी था जो अभी तक कहीं मिला नहीं है। क्या आश्चर्य जो उनके और भी ग्रन्थ हों, जिन्हें हम नहीं जानते। 'स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति' प्रकरणसे मालूम होता है कि वे बड़े भारी तार्किक और सिद्धान्तज्ञ भी थे।

* देखो पृ० ४४ में 'यापनीय साहित्यकी खोज' शीर्षक लेखकी टिप्पणियाँ।

शब्दानुशासनस्यान्वर्थायाश्चिन्तामणेरिदं ।
वृत्तेर्ग्रन्थप्रमाणं (हि) षट्सहस्रं निरूपितं ॥ ९ ॥
इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणं ।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ १० ॥
गणधातुपाठयोगेण धातून् लिंगानुशासने लिङ्गगतं ।
औणादिकानुणादौ शेषं निःशेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥ ११ ॥
बालाबलाजनोप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तित ।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात् ॥ १२ ॥

तत्र सूत्रस्यादावयं मङ्गलश्लोकः। नमः श्रीवर्द्धमानायेत्यादि। शब्दार्थसम्बन्धार्थो वाचकवाच्ययोग्यता अथवा आगमप्रयोजनोपायोपेयभावा ते येन सर्वसत्त्वहितेन तत्त्वतः प्रज्ञापिताः तस्मै श्रीमते महावीराय साक्षात्कृतसकलद्रव्याय नमः करोमीत्यध्याहारः। विघ्नप्रशमनार्थमर्हद्देवतानमस्कारं परममङ्गलमारभ्य भगवानाचार्यः शाकटायनः शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं प्रारभते।

धर्मार्थकाममोक्षेषु तत्त्वार्थावगतिर्यतः। शब्दार्थज्ञानपूर्वेति वेद्यं व्याकरणं बुधैः ॥

अ इ उ ण्। ऋलृक्। ए ओ ङ्। हल् इति वर्णसमाम्नायः क्रमानुबाधोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थः। सामान्यग्रहणाद्दीर्घप्लुतानुनासिकानां ग्रहणम्।

—चिन्तामणि टीका

चिन्तामणिके कर्त्ता यक्षवर्माने उपरिलिखित सातवे श्लोकमे कहा है कि "यह उसकी छोटी वृत्ति है जिसे मैंने उसकी ( शाकटायनकी ) बहुत बड़ी वृत्तिसे संक्षिप्त करके बनाया है।" वे यह नही कहते कि यह मेरी स्वतन्त्र रचना है। अब यह देखना चाहिये कि वह अति महती या बहुत बड़ी वृत्ति कौन-सी है जिसको संक्षिप्त करके यह लिखी गई है। विचार करके देखा जाय तो मालूम होगा कि वह वृत्ति और कोई नहीं, अमोघवृत्ति ही है। क्योंकि एक तो उपलब्ध वृत्तियोंमे वही सबसे बड़ी है। दूसरे ऊपर लिखी हुई दोनो प्रशस्तियोके कुछ भाग समान है, जो यह बतलाते है कि एक वृत्ति दूसरीको देखकर या उसीको संक्षेप करके बनाई गई है। 'इति वर्णसमाम्नायः' आदि पाठ दोनोंके मिलते-जुलते हुए हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ अमोघवृत्तिमे 'सामान्याश्रयणात्' लिखा गया है वहाँ चिन्तामणिमे 'सामान्यग्रहणात्' है। तीसरे यक्षवर्माने जिस मंगलश्लोककी 'नमः श्रीवर्द्धमानायेत्यादि' प्रतीक दी है वह अमोघवृत्तिमे ही मिलती है। मूलका या अन्य किसी वृत्तिका यह श्लोक नही है। इस श्लोकके उत्तरार्द्ध की व्याख्या भी अमोघवृत्तिसे थोड़ा बहुत इधर-उधर करके नकल कर दी गई है। इन सब बातोसे यह निश्चय हो जाता है कि चिन्तामणि-टीका अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और वह अमोघवृत्तिका ही संक्षेप है।

यक्षवर्माने अपनी टीका अमोघवृत्तिको ही कुछ फेर फार करके बनाई है यह बात दोनों टीकाओंका मिलान करनेसे अच्छी तरह समझमें आ जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

नामदु १-१-१७		—मूल शाकटायनसूत्र

यन्नामधेयं सव्यवहाराय हठान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति। देवदत्तीया दैवदत्ता। पञ्चनयानाहु सिद्धसेनीया सैद्धसेना।		—अमोघवृत्ति

यन्नामधेयं सव्यवहाराय हठान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति। देवदत्तीयो दैवदत्तः।		—चिन्तामणिटीका

कहीं-कहींपर तो यक्षवर्माने अमोघवृत्ति ज्योंकी त्यों नकलभर कर दी है। जैसे—ख्याते दृश्ये ४-३-२०७।		—मूल

भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तु शक्यदर्शने वर्तमानाद्धातोर्लङ्प्रत्ययो भवति। लिङ्पदाद् । अरुणद्देव पाण्ड्यम्। अदहदमोघवर्षोऽरातीन्। ख्यात इति किम्? चकार कटं देवदत्तः। दृश्य इति किम्? जघान कंसं किल वासुदेवः। अनद्यतने इति किम्? उद्गादादित्यः।		—अमोघवृत्ति

उक्त सूत्रपर चिन्तामणिकी टीका भी इसी प्रकार है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि अमोघमें जहाँ 'लङ् प्रत्ययो' लिखा है वहाँ चिन्तामणिमें केवल 'लङ्' लिखा है, 'प्रत्यय' छोड़ दिया है।

उपर्युक्त बातोंसे यह तो सिद्ध हो गया कि चिन्तामणि अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और इसीको संकोच करके बनाई गई है। अब यह देखना है कि अमोघवृत्तिका कर्त्ता कौन है? चिन्तामणि टीकाके पूर्वोक्त ३ ४ ५ ६-७ श्लोकोंका अर्थ अच्छी तरह लगानेसे इसका भी निश्चय हो जायगा।

३—जिन्होंने मनःज्ञानरूपी साम्राज्य पदको प्राप्त किया है और जो बड़े भारी साधु समाजके अगुआ थे, वे शाकटायनाचार्य जयवन्त हों।

४—जिन आचार्यने बुद्धिरूप मन्दराचलसे शब्द समुद्रका मथन करके, उसमेंसे यशोरूप लक्ष्मीके साथ साथ सम्पूर्ण व्याकरणोंका साररूप यह अमृत निकाला।

५—जिनका रचा हुआ शब्दानुशासन आर्हत धर्मकी तरह स्वल्प ग्रन्थ (प्रमाणमें थोड़ा), सुख-साध्य और सम्पूर्ण है,

६—जिन (शाकटायन मुनि) के शब्दानुशासनमें इष्टि, उपसंख्यान, वक्तव्य, न वक्तव्य आदिका भगड़ा नहीं है

७—उनकी (तस्य शाकटायनस्य) बड़ी भारी वृत्ति (अमोघवृत्ति) का संकोच करके यह छोटी-सी परन्तु सम्पूर्ण लक्षणोंवाली वृत्ति मैं (यक्षवर्मा) कहूँगा।

ध्यान रखना चाहिए कि ये पाँचों श्लोक शाकटायनका वर्णन करनेवाले हैं। इनमेंके 'यः' (श्लोक ३-४), यदुपक्रम शब्दका 'यत्' (श्लोक ५) और 'यस्य' (श्लोक ६) ये तीनों सम्बन्धद्योतक सर्वनाम सातवें श्लोकके 'तस्य' शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं। यह 'तस्य' शब्द कर्तरि षष्ठीमें बनाया गया है और यह सातवें पद्यका मुख्य वाक्यांश है। अन्वय इस तरह होता है—'यदुपक्रम शब्दानुशासनं सार्वं तस्य महती वृत्तिं संहृत्य इयं लघीयसी वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा' अर्थात् जिसका बनाया हुआ सर्वोपयोगी शब्दानुशासन नामक व्याकरण है, उसीकी बनाई हुई बहुत बड़ी टीकाको सकोचकर मैं यह छोटी-सी टीका बनाता हूँ। इससे निश्चय हो गया कि मूल शब्दानुशासन और उसकी अमोघवृत्ति टीका ये दोनों ग्रन्थ एक ही शाकटायनने बनाये हैं।

मि० राइस साहबने इसके लिए चिदानन्द कविके 'मुनिवंशाभ्युदय' नामक कन्नड काव्यसे एक प्रमाण दिया है। यह कवि मैसूरके चिक्कदेवराजाके समयमें (ई० सन १६७२-१७०४) हुआ है और 'चारुकीर्ति पंडितदेव' इसकी उपाधि (?) थी। कविके कन्नड श्लोकोंका अर्थ यह है—

"उस मुनिने अपने बुद्धिरूप मन्दराचलसे श्रुतरूप समुद्रका मन्थन कर यशके साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायनने उत्कृष्ट शब्दानुशासनको बना लेनेके बाद अमोघवृत्ति नामकी टीका—जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं—बनाई जिसका कि परिमाण १८००० है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनिने व्याकरणके सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकारका पुण्य सम्पादन किया। एक बार अविद्धकर्ण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दिने मुनियोंके मध्य पूजित शाकटायनको मन्दर पर्वतके समान धीर विशेषण से विभूषित किया।"

गणरत्नमहोदधिके कर्त्ता वर्धमान कवि—जो विक्रम स० ११९७ मे हुए हैं—अपने ग्रन्थमें शाकटायनके नामसे जिन-जिन बातोंको उद्धृत करते हैं वे अमोघवृत्तिमें ही मिलती हैं, मूलसूत्रोंमें नहीं। इससे मालूम होता है कि वर्धमान जानते थे कि अमोघवृत्ति शाकटायनकी ही है और इसीलिए उन्होंने उसके उदाहरण शाकटायनके नामसे देना अनुचित न समझा।

शाकटायनस्तु कर्णे टिरिटिरि. कर्णे चुरु-चुरुरित्याह।

—गणरत्न पृष्ठ ८२ और अमोघवृत्ति २।१।५७

शाकटायनस्तु अद्य पंचमी अद्य द्वितीयेत्याह।

—गणरत्न पृ० ९०, अमोघवृत्ति २।१।७

इसके सिवाय नन्दिसूत्रकी मलयगिरिकृत टीकाका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है जिसमें टीकाकर्त्ताने 'श्रीवीरममृतं ज्योति.' आदि मंगलाचरणको शाकटायनकी स्वोपज्ञवृत्तिका बतलाया है। इससे सिद्ध है कि अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायनकी बनाई हुई है।

## रचना काल

ऊपर 'ख्याते दृश्ये' सूत्रकी जो अमोघवृत्ति दी है उसमें एक उदाहरण है—"अदहद मोघवर्षोऽरातीन्।"* अर्थात् अमोघवर्षने शत्रुओंको जला दिया। इस उदाहरणमें ग्रन्थकर्त्ताने अमोघवर्ष (प्रथम) की अपने शत्रुओंपर विजय पानेकी जिस घटनाका उल्लेख किया है, ठीक उसीका जिक्र शकसंवत् ८३२ (वि० सं० ९६७) के एक राष्ट्रकूट शिलालेखमें† इन शब्दोंमें किया है—"भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह।" और इसका भी अर्थ लगभग वही है, अमोघवर्षने उन राजाओंको घेरा और जला दिया जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। उक्त शिलालेख अमोघवर्षके बहुत पीछे लिखा गया था, इसलिए उसमें परोक्षार्थवाली 'ददाह' क्रिया दी है। उसके लेखकके लिए उक्त घटनाका स्वयं देखना अशक्य था। परन्तु अमोघवृत्तिके कर्त्ताके लिए शक्य था, इसलिए उसने 'अदहत्' यह लङ् प्रत्ययकी क्रिया दी है। अर्थात् यह उसके समक्षकी घटना होगी।

बगमुराके दान पत्रमें जो श० सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का लिखा हुआ है इस घटनाका उल्लेख है। उसका सारांश यह है कि गुजरातके माण्डलिक राजा एकाएक बिगड खड़े हुए और उन्होंने अमोघवर्षके विरुद्ध हथियार उठाये, तब उसने उनपर चढ़ाई कर दी और उन्हें तहस नहस कर डाला। इस युद्धमें ध्रुव घायल होकर मारा गया।

अमोघवर्ष श० सं० ७३६ (वि० सं० ८७१) में सिंहासनपर बैठे थे और यह दानपत्र श० सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का है। अतः सिद्ध है कि अमोघवृत्ति ७३६ और ७८९ के बीच किसी समय लिखी गई है और यही पाल्यकीर्ति या शाकटायनका समय है।

महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) जैन विद्वानोंके बड़े भारी आश्रयदाता थे। भगवज्जिनसेन को वे अपना गुरु मानते थे और अन्तमें तो उन्होंने शायद जैनधर्मके विवेकसे राज्यका त्याग भी कर दिया था।‡ अतएव यदि वैयाकरण शाकटायनने उनके जैन धर्म और साहित्यिक प्रेमी होनेके नाते अपनी वृत्तिका नाम अमोघवृत्ति रक्खा हो तो कोई आश्चर्य नहीं और फिर 'अदहद्मोघवर्षोऽरातीन्' उदाहरणसे तो अमोघवृत्तिके कर्त्ताकी समकालीनता स्पष्ट ही हो रही है।

## शाकटायनके पूर्ववर्ती आचार्य

शाकटायनने अपनी पूर्व गुरु परम्पराका कोई उल्लेख नहीं किया है, यहाँ तक कि अपने

* इसी सूत्रकी वृत्तिमें एक उदाहरण और है—'अरुणद्देवः पाण्ड्यम्' अर्थात् देवने पाण्ड्यनरेश को रोका। अमोघवर्षके शर्वन्, जगत्तुंग आदि अनेक नाम हैं। इस देवसे भी उन्हींका मतलब जान पड़ता है। उन्होंने इसके अनुसार किसी पाण्ड्य राजाको रोका या कैद कर लिया होगा।

† एपिग्राफिया इंडिका जिल्द १ पृ० ५४।

‡ विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलङ्कृतिः ॥—प्रश्नोत्तररत्नमाला

गुरुका नाम भी नहीं दिया है। प्रकरण और सूत्र-ग्रन्थमे तो खैर इसके लिए स्थान नहीं था, पर अमोघवृत्तिमे गुंजाइश थी और संभव है उसमे प्रशस्ति रही भी हो, परन्तु जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमे शायद प्रति-लिपिकारोंकी कृपा से वह नहीं रही हैं।

अमोघवर्ष (प्रथम) के पिता प्रभूतवर्ष या गोविन्दराज तृतीयका जो दान-पत्र कदंब (मैसूर) मे मिला है वह शक सं० ७७५ का अर्थात् अमोघवर्षके राजा होनेसे एक वर्ष पहलेका है। उसमे अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर ग्रामके शिलाग्राम जिनेन्द्र-भवनके लिए एक गाँव दान करनेका उल्लेख है। अर्ककीर्ति यापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगणके थे। अर्ककीर्तिके गुरुका नाम विजयकीर्ति और प्रगुरुका श्रीकीर्ति था। बहुत संभव है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) इसी परम्पराके हों, और आश्चर्य नहीं जो अर्ककीर्तिके ही शिष्य या उनके सधर्मा हों

शाकटायन सूत्र-पाठमे इन्द्र, सिद्धनन्दि और आर्यवज्र इन तीन पूर्वाचार्योंका मत दिया है। वे तीनो दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं मालूम होते। या तो ये यापनीय सम्प्रदायके ही होंगे या फिर श्वेताम्बर सम्प्रदायके।

इन्द्र—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) मे पाँच तरह के पाँच मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण देते हुए लिखा है—एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइयो मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥१६।

अर्थात् बौद्ध एकान्ती, ब्रह्म (याज्ञिक) विपरीत, तापस वैनयिक, इन्द्र संशयी और मस्करि (आजीवक) अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण हैं। इनमेसे इन्द्रको टीकाकारने श्वेताम्बर गुरु बतलाया है। परन्तु इन्द्र नामके श्वेताम्बराचार्यका अभीतक कोई उल्लेख नहीं मिला है। बहुत सम्भव है कि वे यापनीय ही हो और श्वेताम्बरतुल्य होनेसे श्वेताम्बर कह दिये गये हो। द्विकोटिगत ज्ञानको सशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें घटित नहीं हो हो सकता।॥ परन्तु यापनीयोंको कुछ श्वेताम्बर और दिगम्बर होनेके कारण एक तरहसे संशय-मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है। बहुत सम्भव है कि शाकटायन-सूत्रकारने इन्ही इन्द्र गुरुका उल्लेख किया हो और यापनीय सम्प्रदायके कोई प्रसिद्ध आचार्य रहे हो।

सिद्धनन्दि—इनके विषयमें हम कुछ नहीं जानते, परन्तु ये भी यापनीय ही मालूम होते हैं। नन्द्यन्त नामधारी आचार्य यापनीयोंमे भी बहुत हुए हैं—चन्द्रनन्दि, मित्रनन्दि, कीर्तिनन्दि, कुमारनन्दि आदि।

आर्यवज्र—श्वेताम्बर सम्प्रदायकी कल्पसूत्र-स्थविरावलीमे अज्ज वइर (आर्य वज्र) नामके एक आचार्यका नाम मिलता है जो आर्य सिंहगिरिके शिष्य और गोतम गोत्रके थे। तपागच्छ-पट्टावलीके अनुसार दशपूर्वधारियोंमे उनकी गणना होती है और वीर नि० सं० ५८४ में उनका स्वर्गवास हुआ था। सभव है, शाकटायनने इन्हीका उल्लेख किया हो। सम्प्रदाय-भेद होनेके पहले होनके कारण तीनो सम्प्रदायवाले इनका उल्लेख कर सकते हैं। तिलोयपण्णत्तिके वज्रयश नामक अन्तिम प्रज्ञाश्रमण भी शायद यही हो।

१ देखो दर्शनसार-विवेचना।

# जैन-सिद्धान्त-भवन और तत्सम्बन्धी कार्यप्रणाली का दर्शन

[ ले०—श्रीयुत बाबू पद्मराज जैन, कलकत्ता ]

मेरा जैन सिद्धान्त भवन, आरा के साथ बहुत प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। मेरे बाल्य जीवन का कार्यक्षेत्र यह भवन ही था। श्रद्धेय स्वर्गीय बा० देवकुमार जी और मेरे परम मित्र बाबू करोड़ीचन्द्रजी के सहयोग से मुझे बहुत से जैन तीर्थ क्षेत्र और अन्यान्य ऐतिहासिक महत्वपूर्ण क्षेत्रों का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस आनन्दमय अवसर का जब कभी स्मरण होता है तो मेरा हृदय गद्गद् हो उठता है।

दिगम्बर जैन महासभा का सभापतित्व मथुरा का महत्वपूर्ण अधिवेशन, कानपुर और हाथरस की प्राण प्रतिष्ठाएँ, बड़े बड़े मेलों में सैद्धान्तिक और साहित्यिक अखाड़े और मल्लयुद्ध का दृश्य आज भी प्राचीन स्मृतिपट पर अंकित चतुर शिल्पी द्वारा चित्रित मृत घटनाओं का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। कलकत्ते में बाबू पूरणचन्दजी नाहर के मकान में बैठकर जब 'भास्कर' के प्रकाशन का अन्तिम निर्णय हुआ था, वह शुभ घड़ी आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। मेरा हृदय और हाथ पाँव काँपते थे। मैं कहता था, "करोड़ीचन्द ! तुम मेरे अयोग्य एवं निर्बल कन्धे पर हिमालय का भार रख रहे हो, मुझे कुछ दिखाई नहीं देता, परिणाम क्या होगा !'

हमारे सामने केवल निःस्वार्थ सेवा आत्मत्याग और कठिनतम घोर अन्धकारमय कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलना ही था। जैन इतिहास गिरिकन्दराओं की निविड़ अन्धकारमय गुफाओं में आच्छादित पड़ा था। उसीकी खोज का भार मुझ सरीखे अनभिज्ञ और ऐतिहासिक ज्ञानशून्य व्यक्ति के सिर पर लादा गया। मैंने भी यह समझकर स्वीकृति दे दी कि यदि मैं कहीं हास्यास्पद हुआ तो अपने ही पूज्यों के सामने होना पड़ेगा। बा० करोड़ीचन्द्रजी ने और मैंने तीन महीने में प्रथम किरण की कुछ सामग्री एकत्र की। बा० करोड़ीचन्द्रजी के आरा चले जाने पर मैं अकेला अन्धकार में झूलने लगा और दूसरे दो महीने में किसी न किसी तरह प्रथम किरण प्रकाशित कर ही दी। प्रथम किरण की प्रथम प्रति जब मैंने आरा भेजी, तो बधाई के तारों का ढेर लग गया। सबसे बड़ा उपहार स्वर्गवासी बा० देवकुमारजी और करोड़ीचन्द्रजी के हाथों का पुष्पहार पार्सल से आया था, यह आज मुझे याद है। मैंने कहा, समाज इस खोज का स्वागत करे अथवा न करे, देवकुमारजी और करोड़ीचन्द्रजी की बधाई मेरे सारे परिश्रम का फल है। मेरा हृदय आनन्द से नाचने लगा।

'भास्कर' की दूसरी किरण निकालने के समय आरे वाले पं० हरनाथजी द्विवेदी और कर्णाटक-निवासी पं० पागलजी, और एक दूसरे साधारण लेखक की सहायता मुझे प्राप्त हुई। पहली किरण के प्रकाशन का फल शीघ्र ही देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र की तरह जैन ऐतिहासिक आकाश में दिखाई दिया। इंगलैण्ड में निकलनेवाली 'ओरियन्टल हिस्ट्री सिरीज' के सम्पादक ने लिखा कि 'जैन पंडितों ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को जैन प्रमाणित करने में जो अकाट्य और असंदिग्ध ऐतिहासिक प्रमाण एकत्र किये हैं, उनसे विचारों में आघात लगे विना नहीं रहता। यद्यपि चन्द्रगुप्त के जैन स्वीकार करने में कुछ समय सापेक्ष है, तो भी इन प्रमाणों के रहते अस्वीकार करना भी उतना ही कठिन है।"

हमलोग हिन्दू-महासभा के अधिवेशन पर भागलपुर आये हुए थे, मेरे साथ प्रधान साथियों में मनेपर निवासी, राजस्थान हिन्दू संगठन के प्रधान नेता श्री बा० दुर्गा प्रसाद जी का उल्लेख विशेष महत्त्व रखता है। कई दिनों तक सरकारी जेलों में रहकर जब हमलोग बहुत-से मित्रों के साथ ता० ५ जनवरी सन १९४२ को पटने आये, और पटने में कुछ आरे के भाइयों ने हमलोगों से हिन्दू सभा के प्रचारार्थ आरा आने का आग्रह किया, तो वही 'जैन-सिद्धान्त-भवन', वही देवकुमारजी का 'देव-भवन', वही करोड़ीचन्द्रजी की कुटिया, और वयोवृद्ध चच्चू बाबू का कटाक्ष-निरीक्षण याद आकर हृदय हिलोरें लेने लगा। आज 'जैन सिद्धान्त-भवन' एक भव्य, सुन्दर रमणीक, स्थान में विराजमान है। आलमारियों में हिन्दी, संस्कृत, कन्नड, पाली, तामिल और अन्यान्य भाषाओं के मुद्रित, प्रकाशित, हस्त-लिखित, ताड़पत्र, भोजपत्र के अनेक गौरवमय ग्रन्थ नियमित रूप से सुसज्जित हैं—देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ और मालूम पड़ने लगा कि आज भविष्य का आनन्दमय स्वप्न प्रत्यक्ष हो रहा है। इस आनन्द का किसी भी साहित्यिक भाषा से वर्णन नहीं हो सकता। पण्डित के० भुजवली शास्त्री बड़ी योग्यता के साथ भवन का संचालन कर रहे हैं। भवन द्वारा प्रकाशित, कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वे मुझे अर्पण कर धन्य करना चाहते थे, परन्तु मैं कहाँ जाऊँगा, और अन्ताराष्ट्रीय परिस्थिति मुझे कहाँ रहने के लिए वाध्य करेगी, यह न जानते हुए शास्त्रीजी के उस अपूर्व दान को मैं कृपण की सम्पत्ति की तरह उन्हीं के पास सुरक्षित रख आया हूँ। केवल भास्कर का भाग ८, किरण २ पढ़ने के लिए साथ लेता आया, आरा से राजगृही तक पढ़ने और मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज इसीलिए मैं इस किरण में प्रकाशित "अर्द्ध फालक-सम्प्रदाय" शीर्षक लेख की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

'जैन सम्प्रदाय का दो भागों में अर्थात् श्वेताम्बर व दिगम्बर में विभक्त हो जाना जैन इतिहास की एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना है, अस्तु इस घटना पर भारत के अन्य इतिहासकार क्या प्रकाश डालते हैं और उसके साथ इस घटना का कितना सम्बन्ध है. यह सारी बातें इसके निर्णय में एक विशेष स्थान रखती है।"

आचार्य रत्ननन्दी का 'भद्रबाहुचरित्र' अथवा 'भावप्रकाश' आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी घटनाओं पर प्रकाश डालने के लिए यथेष्ट नहीं समझे जाते। आचार्य रत्ननन्दीजी का समय बहुत आधुनिक है। भावप्रकाश तो ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व ही नहीं रखता। वह तो बहुत सी सुनी सुनाई किम्वदन्तियों, और रोचक कथाओं का संग्रह मात्र है, इसलिये उक्त लेख के विद्वान् लेखक की यह कल्पना कि श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म विक्रम सम्वत् के १३६ वर्ष बाद हुआ है ऐतिहासिक प्रमाणों पर नहीं ठहर सकती। अन्तिम श्रुतकेवली, भद्रबाहु के समय में ही दोनों सम्प्रदायों के भिन्न हो जाने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यहीं से दोनों सम्प्रदायों की गुरु पट्टावलि (आचार्यावलि) भिन्न भिन्न दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक ओर भद्रबाहु स्वामी और दूसरी ओर स्थूलभद्र स्वामी से पट्टावलियाँ प्रारम्भ होती हैं। भद्रबाहु स्वामी के समय में ही जैन साधु संघ के अधिवेशन में दोनों सम्प्रदायों के भिन्न हो जाने का उल्लेख आज पर्यन्त श्वेताम्बर ग्रन्थों में पाया जाता है। अस्तु, इस घटना को ५०० वर्ष पीछे मानना युक्त्यसंगत है। साथ ही सम-सामयिक विदेशी साहित्य में भी नग्न, वस्त्रसहित और पीताम्बर अर्थात् बौद्ध सन्यासियों का उल्लेख पाया जाता है। ग्रीक सेनानायक सैल्युकस के पीछे आनेवाले कई ग्रीक दूतों ने उस समय के साहित्य में तीन प्रकार के साधुओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। अन्य भी कई स्थानों में वस्त्रधारी जैन साधुओं का उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि उनके श्वेतवस्त्र अथवा अन्य किसी रंगविशेष का कोई विशेष वर्णन न होने पर भी जैन पीतवस्त्र धारण करनेवाले सन्यासियों का भिन्न उल्लेख पाया जाता है, तो दो प्रकार के जैन साधु नग्न और वस्त्रधारी दिगम्बर और श्वेताम्बर के सिवाय दूसरा कोई होना सम्भव दिखाई नहीं देता, क्योंकि दिगम्बरों में उस समय तक भट्टारकों का आविर्भाव नहीं हुआ था। श्वेताम्बर भाई भी इस घटना में कोई सन्देह नहीं करते परन्तु इतना वे अवश्य कहते हैं कि मूल सम्प्रदाय उन्हीं का है। उस समय नग्न और वस्त्रधारी दोनों ही प्रकार के साधु होते थे। स्थूलभद्र स्वामी के पीछे से दिगम्बर सम्प्रदाय मूल सम्प्रदाय से भिन्न हो गया जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने नग्नता को मोक्ष के प्रतिप्रतिबन्धक नहीं माना, उसी प्रकार दिगम्बर आदि ग्रन्थों ने भी ऊपर से पड़े हुए वस्त्र को निर्वाण में प्रतिबन्धक नहीं माना। जो दिगम्बर सिद्धान्त यह कहता है कि कर्मों का अत्यन्त अभाव ही मोक्ष है वह सिद्धान्त यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया हो और उसे यदि एक वस्त्र पहना दिया जाय, तो वह जीव मोक्ष पाने से रोका जा सकता है। अस्तु यह सिद्धान्त अथवा यह कारण सर्वथा निर्मूल मालूम होता है कि वस्त्र मोक्ष का प्रतिबन्धक कारण सिद्ध हो। यह बात भिन्न है कि अन्तरंग परिग्रह वस्त्र क्यों एक तृण भी आत्मानुभव की चरमसीमा का प्रतिबन्धक है। इसे दोनों ही सम्प्रदायवाले

स्वीकार करते हैं। अस्तु, दोनों ही सम्प्रदायों मे कोई मूल सैद्धान्तिक भेद तो है नहीं, केवल पीछे के कुछ ग्रन्थकारो ने अहमिका बुद्धि को सामने रखकर मिथ्या साम्प्रदायिक रंग चढ़ाने का प्रयत्न किया है।

मेरा भास्कर के सुयोग्य विद्वान् सम्पादकों से यह निवेदन है कि पहले तो यथासंभव साम्प्रदायिक झगड़ो मे पड़ना ही नही चाहिये, अनिवार्य कारण होने पर केवल निर्भ्रान्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर ही लेखनी उठनी चाहिये। अभी मेरी तो धारणा है कि जैन इतिहास आज से २५ वर्ष पहले जिस निविड़ अन्धकार मे था, आज भी वह वहीं है। किसी महानुभाव ने परमाणुमात्र भी प्रकाश डालने का योग्य प्रयत्न नहीं किया। आज भी राजगृही मे भगवान महावीर के समवशरण का अनेको बार, यहाँ आने और धर्मोपदेश देने का उल्लेख पाया जाता है—तो भी आज पर्यन्त किसी भी जैनी भाई ने यह प्रयत्न नहीं किया कि वह ढूँढ़ निकालता कि महावीर स्वामी के समवशरण का केन्द्र अथवा मध्य विन्दु कहाँ था. केवल पहाड़ों की चोटियों पर उवड़-खावड़ पत्थरों को जोडकर अरब के आदर्श को सामने रखकर कुछ टेढ़े-मेढ़े मन्दिरों के निर्माण से इस परम महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान मे जैन सम्प्रदाय का महत्त्व नही बढ़ता। विंबसार (श्रेणिक), अजातशत्रु (कोणक) के ऐतिहासिक ध्वंशावशेष इस बात मे सन्देह उपस्थित कर रहे है कि ये दोनो सम्राट् जैन धर्मावलम्बी थे या बौद्ध धर्मावलम्बी। ऐलोरा, अजन्ता भारतीय इतिहास के दो जाज्वल्यमान रत्न आज भी जैन इतिहास की दृष्टि से अगम्य है, हालांकि वहाँ जैन मन्दिर और जैन मूर्तियों का ध्वंशावशेष आज भी हमारी ऐतिहासिक अनवधानता पर अश्रु बहाता है। एक नही, सौ नही, हजारों स्थान ऐसे बताये जा सकते है कि जहाँ, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वर्तमान प्राप्य सामग्री को ही लेकर जैन इतिहास के किसी अन्धकारमय स्थान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न हो सकता है। यदि हमारे भाई इस ओर ज्यादा ध्यान देंगे, तो उनका प्रयत्न बहुत-कुछ फलप्रद हो सकेगा।

---

**सम्पादकीय नोट**—बाबू पद्मराजजी का 'भास्कर' से पुराना सम्बन्ध है—आप उसके आदि सम्पादक थे। आज 'भास्कर' के विषय मे उनका अभिप्राय हमारे लिये रुचिकर है। किन्तु इस अवधि से बाबू जी के दृष्टिकोण मे अन्तर पड गया है—उनका व्यक्तित्व भी तब से परिवर्तित और परिवर्द्धित हुआ है। वे आज उतने इतिहास-जगत के विद्वान् नहीं, जितने कि हिन्दूराष्ट्र के अग्रणी नेता है। इस रूप मे हमे उनपर गर्व है। किन्तु आज वे हिन्दू संगठन के रंग मे यदि इतिहास को भी रंगना चाहे तो यह शोध-ज्ञान के लिये उपादेय नहीं कहा जा सकता। हमारे कतिपय कांग्रेसी नेता भी हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए भारत के प्राचीन इतिहास का अद्भुत रूप उपस्थित करते हैं। ऐसी बाते राष्ट्रीय दृष्टि से शायद ठीक हों, परंतु इतिहास जगत तो घटनाओं का विशुद्ध नग्नरूप ही

देखना चाहेगा—उसे किसी सम्प्रदाय से कोई सरोकार नहीं ! 'भास्कर' की नीति सदा से स्पष्ट है—उसमें सम्प्रदाय विशेष को लक्ष्य करके विद्वेषभाव से कुछ भी नहीं लिखा जाता। विशुद्ध ऐतिहासिक आधारों से जो बात प्रमाणित होती दिखती है वह प्रकट की जाती है। उसपर ऊहापोह करने का भी अवसर प्रत्येक निष्पक्ष पाठक को प्राप्त है। बाबू पद्मराजजी ने हमारे 'अर्द्धफालक सम्प्रदाय' विषयक लेख पर आपत्ति की है और वह भी यात्रा में उसे पढ़कर स्मृति पर से ही की गई है। बाबूजी को इतना अवकाश नहीं है कि वह विषय का अध्ययन करके कुछ लिखें परन्तु इस प्रकार स्मृति से ही आपत्ति उपस्थित करके आपने एक बड़ा साहस ही किया है ! आश्चर्य है, आप 'भावप्रकाश' व 'दर्शनसार' सदृश प्राचीन ग्रन्थों को कोई महत्त्व नहीं देते और उन्हें इतिहास के लिए उपयोगी नहीं मानते ! किन्तु जिन्होंने इन प्राचीन ग्रंथों को देखा है वे जैन इतिहास के लिए इनकी उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। वि० सं० १३६ वर्ष के लगभग (बाद में नहीं) श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायों का स्पष्ट भेद होना हमारी कल्पना नहीं है, बल्कि दोनों सम्प्रदायों की प्राचीन मान्यता है और आधुनिक विद्वान् भी उसे ठीक मानते हैं। आप दोनों सम्प्रदायों का स्पष्ट भेद चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से मानते हैं, क्योंकि दोनों सम्प्रदायों की पट्टावलि तभी से भिन्न भिन्न मिलती है। किन्तु पट्टावलियों की भिन्नता इस बात का प्रमाण नहीं है कि दोनों सम्प्रदाय तभी बिल्कुल स्पष्ट हो गये थे। श्वेताम्बर मतानुसार भद्रबाहु के पश्चात् भी कई आचार्य दिगम्बर भेष में रहे बताये गये हैं और उन्होंने प्राचीन निर्ग्रन्थ (नग्न) भेष को ही पुनः धारण करने का उपदेश भी दिया था। इससे भी स्पष्ट है कि उन्होंने एकदम वस्त्र धारण नहीं कर लिये थे। उस पर पट्टावलियाँ बाद में रची गई हैं और वह बाद में अपनी अपनी सम्प्रदाय को भिन्न प्रकट करने के लिये भिन्न भिन्न रूप में रची जा सकती हैं। अतः उनके आधार से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि भद्रबाहु जी के समय से ही श्वेताम्बर साधु वस्त्र पहनने लगे थे। इन पट्टावलियों से प्राचीन मथुरा का पुरातत्त्व है। उनमें ऐसे कई शिलापट हैं जिनमें श्वेताम्बरीय पट्टावली में आये हुए आचार्यों के नाम हैं, परन्तु उनमें कोई भी साधु सचेल (वस्त्रसहित) नहीं अङ्कित है। प्रत्युत कलाई पर खंडवस्त्र डाले हुए नग्न साधु अङ्कित हैं, जैसे कि वीर-गर्भपरिवर्तन के दृश्य वाले पट पर। इस पुरातत्त्व का उल्लेख हमने अपने पूर्वलेख में किया है परन्तु आश्चर्य है कि बाबूजी जानबूझ कर उस पर एक शब्द भी नहीं लिखते। इस शिला लेखीय साक्षी से इनकार भी कैसे किया जाय ? फिर हमारी शोध को 'कल्पना' कहना, कहाँ तक ठीक है, यह निष्पक्ष पाठक स्वयं समझ सकते हैं। निस्सन्देह वास्तव में सम्प्रदाय भेद का जन्म मौर्यकाल में ही पड़ गया थी परन्तु वह पूर्णरूप में स्पष्ट ईस्वी प्रथम शताब्दि में ही हुई। इस अवधि में दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने ग्रन्थ और अपने सिद्धान्त बिल्कुल स्पष्ट और मान्य करके घोषित कर दिये थे। प्राचीन नग्नमूर्तियों के स्थान पर वस्त्रलाञ्छनयुक्त-प्रतिमायें भी उपरान्त बनाई जाने लगी थीं। बाबूजी लिखते हैं कि समसामयिक विदेशी साहित्य 'निर्ग्रन्थ' के दिगम्बर और श्वेताम्बर साधुओं का उल्लेख करता है परंतु कोई पता निशान नहीं दिया है; जिससे उस पर विचार किया जा सके। अन्त में हिन्दू सगन्न की धुन में बाबूजी ने यहाँ तक लिखा है कि दोनों सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दिगम्बर मान्यता को लक्ष्य करके आप लिखते हैं कि "वह यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया हो और उसे यदि एक वस्त्र पहना दिया जाय तो वह जीव मोक्ष पाने से रोका जा सकता है ? किन्तु बाबूजी यहाँ भूल रहे हैं। जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया होगा, उसे वस्त्र पहनाया ही नहीं जा सकता ! वह तो उसी

समय निर्वाण में पहुँच जायगा। यदि आपका अभिप्राय उस साधु से हो जो कर्मों का सर्वथा नाश करने के लिये उद्यमी हुआ हो और कदाचित् उसे वस्त्र पहनाया जावे, तो वह साधु उसे उपसर्ग समझेगा और वैसी चर्या करेगा। परन्तु जो साधु रुचि पूर्वक वस्त्र पहनता है—उसकी सारसंभाल करता है, उसे मोह-मुक्त कैसे कहा जायगा? कैसे यह माना जायगा कि वह सूक्ष्मतम रूप में वासनामुक्त है? लज्जा को उसने जीत लिया है। इस प्रकार का विशुद्ध तत्त्वचर्चा और ऐतिहासिक शोध को 'साम्प्रदायिक-कोटि' में ढकेलना ज्ञानोपयोग का उपहास करना है। आशा है, बाबूजी भविष्य में ऐतिहासिक वार्तों को अधिक सावधानी से समझने-बूझने का प्रयत्न करके इतिहास-जगत का हित साधेंगे। इसमें शक नहीं कि जैनियों ने जैन इतिहास की शोध में चाहिये वैसी दिलचस्पी नहीं ली है—इस ओर कोई भी संगठित उद्योग नहीं किया गया है। जैनसमाज को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

—कामता प्रसाद जैन

# सर्वार्थसिद्धि के शकयवनादि शब्द

श्री आचार्य उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र' के तृतीय अध्याय में 'आर्या म्लेच्छाश्च' (सूत्र स० ३६) जो सूत्र है, उसकी श्री आचार्य पूज्यपादकृत 'सर्वार्थसिद्धि' नामक प्राचीन वृत्ति में पूज्यपाद ने कर्मभूमिज म्लेच्छो का भेद गिनाते हुए 'कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबर-पुलिंदादयः' यों शक, यवन, शबर एवं पुलिद आदि जातियां को कर्मभूमिज म्लेच्छ बतलाया है। इन उल्लिखित शक, यवनादि जातियो पर विशेष प्रकाश डालने की जरूरत है। मनु, महाभारत एव अशोक के लेख आदि से पता लगता है कि इन यवन, पुलिंद आदि जातियों का भारतीय प्राचीन राजतंत्र से भी घनिष्ठ सबध था। आशा है कि अनुसंधानप्रेमी विद्वान् इस विषय पर अवश्य प्रकाश डालेगे।

—के० भुजबली शास्त्री

# श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद, जैन, एम० आर० ए० एस० ]

(क्रमागत)

नविलूर ग्राम २४। श्रीवल्लभ के पुत्र महासामन्ताधिप रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्य में मनसिज की रानी के व्याधिमुक्त होने पर मौनव्रत की समाप्ति के उपलक्ष में जो भूमिदान किया गया था, उसकी सीमा का एक ग्राम था।

नागति २९१। नागति के राजा ने देव व तीर्थ की वन्दना की थी।

नागरनविले ३६१। यहाँ के केतिसेट्टि ने चतुर्विंशति जिनालय मोसले को वार्षिक चन्दा देना स्वीकारा था।

नीलगिरि, ५३, ५६। गंगवाडि में स्थित थी।

नडुगोर, ६। शक स० ६२२ के लगभग इस ग्राम के पानप (मौनद) भट्टारक ने व्रत पालकर श्रवणबेल्गोल में प्राण विसर्जन किये थे।

नोलम्बवाडि प्रदेश ५३, १२४, १३०, १३७, ४९१, ४९४ नोलम्ब वंशी राजाओं के शासनाधीन प्रदेश 'नोलम्बवाडि' कहलाता था। यह देश 'पल्लवदेश' के अन्तर्गत समझा जाता था। इसमें अन्तर्गत ३२००० ग्राम थे।

पडेवलगर, ८९। गंगवाडि का एक ग्राम था जो गोम्मटेश को भेंट किया गया था।

परमग्राम, ४५, ५९। गंगवाडि का एक ग्राम जिसे सेनापति गंगराज ने गोम्मटेश को भेंट किया था।

पाटलिपुत्र नगर ५४। "पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्य नगरे भेरी मया ताडिता" इन शब्दों में स्वामी समन्तभद्र ने इस नगर को पूर्व देश में स्थित बताया था। अतः यह मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) होना चाहिये। कन्नड भाषा के 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि को पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त को सोलह स्वप्न हुए थे। प्रातः उपवन में जाकर राजा ने भद्रबाहु से उनका फल पूछा था और अन्त में वह उनके निकट दिगम्बर जैन मुनि हो गए थे। जब भद्रबाहु स्वामी संघ सहित दक्षिण भारत में पहुँचे और श्रवणबेल्गोल में (कटवप्र पर) ठहरे तब चन्द्रगुप्त उनकी सेवा सुश्रूषा के लिये उनके साथ रहे थे। यहाँ उन्होंने धर्म साधा था।" इसीलिये कटवप्र पर्वत उपरांत 'चन्द्रगिरि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वामी समन्तभद्र ने इस नगर में भेरी बजाकर विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था। मौर्यवंश के राजाओं के पहले से पाटलिपुत्र जैनधर्म का केन्द्र हो रहा था। उदयराज ने गंगातट पर बसे हुए पाटलिग्राम को वृहदाकार नगर पाटलिपुत्र को जन्म दिया था। उन्होंने स्वयं एवं उपरान्त मौर्य सम्राटों ने यहाँ जिन

मंदिर बनवाये थे। मेगास्थनीज़ नामक यूनानी एल्चो ने इसका विशद वर्णन लिखा था। उसने इसका नाम 'पलिवोथ्र' (Palibothra) लिखा था और उसे गंगा एवं अरुणवर (Erannoboar) नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ बताया था। वह लगभग २५-२६ मील को लम्बाई-चौड़ाई मे बसा हुआ था। उसके चहुंओर नगरकोट था जिसमें ६४ दरवाजे और ५७० बुर्जें थीं। आधुनिक पटना उस प्राचीन नगर के ध्वंशावशेषों पर बसा हुआ है—प्राचीन पाटलिपुत्र आज १०-२० फीट नीचे दबा पड़ा है। सन् १९१२-१३ में डॉ० स्पूनर ने यहां खुदाई कराई थी, जिससे मौर्यों के सहस्र स्तंभ भवन का पता लगा था। यहीं से मौर्यकालीन जिनप्रतिमायें भी उपलब्ध हुई थीं। पाटलिपुत्र का वर्णन चीनी यात्री हुएनसांग ने इस प्रकार लिखा था: "यहां पर पहले से ही सुन्दर मकान (एक) वृक्ष के नाम से बना हुआ था, इस कारण इसका नाम पाटलिपुत्रपुर, (अर्थात पाटली वृक्ष के पुत्र का नगर) हो गया। प्राचीन राजभवन के उत्तर में एक पाषाणस्तंभ बीसियों फीट ऊँचा है। यह वह स्थान है जहां पर अशोक राजा ने एक नरक बनवाया था। तथागत के निर्वाण प्राप्त करने के सौवें वर्ष यहां पर एक अशोक (उदयन) नामक राजा हो गया है, जो बिम्बसार (श्रेणिक) राजा का प्रपौत्र था। इसने अपनी राजधानी रजगृही को बदल कर पाटली बनाई थी, और प्राचीन नगर के चारों ओर रक्षा के लिए बाहरी दीवार बनवाई थी। इसकी नींव, यद्यपि तबसे अनेक वंश समाप्त हो गये अब भी वर्तमान है। संघाराम, देवमन्दिर और स्तूप जो खंडहर होकर धराशायी हो गये है, उनकी संख्या सैकड़ों हैं। केवल दो या तीन कुछ अच्छी दशा मे वर्तमान हैं।" (हुएनसांग का भारत भ्रमण पृ० ३७४-३७५)। जैनियों का यह तीर्थधाम है, क्योंकि सेठ सुदर्शन ने यहीं से श्रेष्ठगति पाई थी।

पाण्ड्यदेश ३८, ५३, ५४, १२४ इत्यादि। दक्षिण भारत का प्राचीन देशविशेष, जहाँ के राजा जैनधर्मानुयायी थे। मदुरा इसकी राजधानी थी। वर्तमान मदुरा और टिन्नेवेली जिले तथा ट्रावंकोर और कोयम्बुत्तूर व कोचीन के कुछ भाग पाण्ड्यदेश के अन्तर्गत थे। चीनी यात्री हुएनसांग ने 'मालकूट' नाम से इस देश का वर्णन लिखा है, जिससे प्रकट है कि इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५००० ली था। वहां नमक बहुत होता था। लोग पूर्णरूप से व्यापार में ही निरत थे। यहां उसे असंख्य बौद्धेतर लोग मिले थे, जिनमे अधिकतर निर्ग्रन्थ (जैनी) थे। (भा० भ्र० पृ० ५७७) भद्रबाहु स्वामी का संघ इस देश मे भी विचरा था। यहाँ के एक नरेश ने चतुर्मुख देव नामक जैनाचार्य को 'स्वामी' की उपाधि दी थी।

पानीपथ, ३३८, ३४० इत्यादि। आगरा, अवध व पंजाब की ओर प्रचलित नागराक्षरों मे लिखित अग्रवाल जैन यात्रियों के लेखों मे कई एक यात्री 'पानीपथीय' थे। अतः यह नगर करनाल जिले का पानीपत प्रतीत होता है।

पुरस्थान, ३२२। उत्तरभारत का कोई नगर, जहाँ के चहुपाल जैनी ने सं० १५४६ में गोम्मटेश्वर की यात्रा की थी।

पेनुगोण्डे, १३६, दक्षिण भारत का एक ग्राम।

पेरुमाल्कावेल, १३६। काञ्ची का अपर नाम था।

पगल्वप्पुगिरि, २४। एक पहाड़ी का नाम जो सम्भवतः गङ्गवाड़ी में थी।

पेर्माड़ि १३। यह स्थान दक्षिणभारत के तलेकाडु नामक प्रान्त में था। यहाँ के कनापन नामक धर्मात्मा सज्जन ने २१ दिन का सन्यास धारण किया था।

पाम्बुच, पोम्बुच ५३, ५६, १४८। गङ्गवाड़ी का यह एक प्रसिद्ध दुर्ग था जिसे होयसल राजाओं ने जीता था।

प्रतापपुर ग्राम, ४०। गङ्गवाडि में था, वहाँपर रूपनारायण बस्ति का जीर्णोद्धार महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेव ने कराया था।

बङ्कापुर, ३८, ५१, १३७। राजा मारसिंह गङ्ग ने यहाँ पर ही श्रीअजितसेनाचार्य के निकट सल्लेखनाव्रत धारण किया था। यहाँ के जैनाचार्य प्रसिद्ध रहे हैं जिनमें एक देवेन्द्र मुनि भी थे (बङ्कापुर मुनाव्राऽभूद् देवेन्द्रो रुन्द्रसद्गुण)। सेनापति हुल ने यहाँ के जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। कलिविट नायक के बनवाये हुए जिनमंदिर को इन्होंने फिर से कैलाश इतना ऊँचा बनाया था। बङ्कापुर बनवास देश का मुख्य नगर था। इसे चेल्लकेतन वंश के राजा बङ्केयरसु ने बसाया था। लोकसेन नृप के समय में यहाँ जैनधर्म की विशेष उन्नति हुई थी।

बनवस (बनवासी) दुर्ग व प्रान्त, ३८, १२४, १३०, १३७ इत्यादि। उत्तर कन्नड़ जिले के सिर्सि तालुके में वरदानदी के तट पर अवस्थित था। सन् ३००—१२०० ई० तक कदम्बवंश के राजाओं की राजधानी रहा, जो मैसूर रियासत के पश्चिमोत्तर भाग और उत्तर कन्नड़ जिले के बहुभाग पर शासन करते थे। यह बनवासी वैजयन्ती नाम से भी प्रसिद्ध था। पश्चिमीय चालुक्य नरेश त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम (सन् १०४२—१०६८ ई०) के सामन्त महामंडलेश्वर चामुण्डरायरस यहाँ के वायसराय जैनधर्म के अनन्य भक्त थे। निस्सन्देह बनवासी प्राचीन काल से जैनधर्म का केन्द्र रहा है। यहाँ बलात्कारगण की गद्दी थी। १४ वीं श० में यहाँ के वर्द्धमानस्वामी और बनवासस्वामी नामक जैनाचार्य प्रसिद्ध हुए हैं।

बम्मेयनहल्लि ग्राम, १४ ४९४। दण्डाधिप चन्द्रमौलि की प्रार्थना पर यह ग्राम आचल देवी द्वारा निर्मापित जिनमंदिर के लिये दान किया गया था।

बर्बरदेश १३८। होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन के लिये लिखा है कि उन्होंने बर्बरदेश के गर्व को सुधिर किया था। भारत का पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त अरबसागर तक कौटिल्य के समय में बर्बरदेश कहलाता था।

बलिपुर—५७। शक सं० १०२२ में बलिपुर मैसूर प्रदेश में जैनधर्म का एक केन्द्र था। वहाँ दि० मुनियों की एक परम्परा प्रतिष्ठित रही थी। उनमें से मलधारी गुणचन्द्रजी 'मुनीन्द्र बलिपुरे मल्लिकामोदशान्तीशचरणार्चकः कहे गये हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि बलिपुर के शान्तीश भगवान प्रसिद्ध थे। बलिपुर के सूर्याभरणत्रिपुरान्तकसूरि भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने मागुण्डी में शङ्कर सामन्त द्वारा निर्मापित 'रत्नत्रयबस्ति' की प्रशंसा की थी—वह खूब अच्छा व सुन्दर बनाया गया था।

बलेयपट्टण—५६। गंगवाड़ि का एक दुर्ग जिसे होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन ने जीता था।

बस्तिहल्लि—१०७। होयसल राज्य में एक ग्राम था।

बहगिगे—३६१। एक ग्राम था।

बागडेगे—८५। यहाँ के कवडमय्यसेव के आग्रह से कन्नडकवि बोप्पण ने यह सुललित शासन लेख रचा था।

बागिपूर—९१। इस ग्राम में रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिया श्राविका सायिव्वे ने अपने पति के साथ लड़ते हुए युद्ध में वीरगति पाई थी!

बाणरसि—५३, ५६, ५७, ८३, ११३। लेखों में वाणारसि का उल्लेख शासनरक्षा के लिये शपथ रूप में किया गया है। यह उत्तर भारत का प्रसिद्ध नगर और तीर्थ बनारस प्रतीत होता है; जहाँ भ० सुपार्श्वनाथ और भ० पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप कल्याणक हुए थे। यह प्राचीन काशीदेश की राजधानी थी। चीनयात्री हुएनसांग के समय में यह राज्य ६६७ मील (४००० ली) में विस्तृत था। वाराणसी गंगा के पश्चिमी तट पर तब भी स्थित थी—उसका विस्तार तीन मील लंबा और एक मील चौडा था। अबुलफजल ने 'आईन-ई-अकबरी' (२।२८) में लिखा है कि 'वारानसी को आमतौर पर बनारस कहते हैं। वह एक बड़ा नगर है जो दो नदियों 'वर्ना' और 'असि' के बीच में बसा हुआ है।' भदैनी भेलूपुरा में जैनियों के पुराने मंदिर हैं।

बारकनूर, ९४। इस ग्राम के मेधाविसेट्टि की स्मृति में ३ मन दूध प्रति दिन गोम्मटेश के अभिषेकार्थ देने का दान किया गया था। यह ग्राम वहीं कहीं होगा।

बिटेयनहल्लि—३३०। इस ग्राम के मेणसिसोयिसेट्टिने गोम्मटाभिषेक के लिए दान दिया था।

बिडित—३५६। इस ग्राम गुम्मट सेट्टिने संघ सहित बेलुगल की वन्दना की थी और व्रतोद्यापन किया था।

बिलिकेरे—९८। इस ग्राम के निवासी देवराज अरसु मैसूर नरेश श्रीकृष्णराज वोडेयर के प्रधान अङ्गरक्षक थे। उनकी मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिवस हुई। अतएव उनके पुत्र पुट्टदेवराज ने दान दिया था।

—क्रमशः

# गुजराती भाषा में दिगम्बर-साहित्य

[ ले०—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा ]

जैनधर्म के प्रधान सम्प्रदाय दिगम्बर एवं श्वेताम्बर का प्रचार स्थल क्रमशः दक्षिण और उत्तर भारत है। उत्तर भारत में भी गुजरात प्रान्त में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही विशेष रूप से फला फूला है, सैकड़ों वर्षों से यह प्रान्त उनका प्रधान केन्द्रस्थल रहा है। तब दि० सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या इस शताब्दी में कुछ बढ़ जाने पर भी अपेक्षाकृत अत्यंत न्यून है। निश्चित प्रमाण के अभाव में अद्यावधि यह कह सकना कठिन है कि दि० सम्प्रदाय का गुजरात में प्रवेश* कब एवं किस कारण से हुआ एवं समय समय पर उसका कैसा प्रभाव रहा। फिर भी सं० ११८१ में पाटण में इस शर्त पर दि० कुमुदचन्द्रजी से श्वे० वादीदेव सूरि का शास्त्रार्थ हुआ कि जो हारेगा उसे इस प्रान्त को छोड़ देना पड़ेगा।† ऐसा उल्लेख प्राप्त होने के कारण उस समय से पूर्व ही उनका गुजरात से अच्छा सम्बन्ध था, ऐसा प्रतीत होता है। सं० १२९४ में अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरि-रचित शतपदी ग्रन्थ में भी दि० भट्टारकों आदि के आचरण के विषय में उल्लेख होने से उस समय के आसपास भी दि० साधु या भट्टारक गुजरात में थे, ऐसा ज्ञात होता है। दि० समाज के विद्वानों को उचित है कि वे इस सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान कर ज्ञातव्य इतिवृत्त प्रकाशित करें।

गुजरात प्रान्त में रचित दि० साहित्य विशेष परिमाण में नहीं पाया जाता, विशेषतः गुजराती भाषा का दि० साहित्य तो नगण्य ही है। जो थोड़ा-सा उपलब्ध है उसके सम्बन्ध में भी सर्वसाधारण की तो बात ही दूर, दि० विद्वानों में से बहुत कम व्यक्तियों को शायद ही कुछ जानकारी हो, अतः इस लेख में दि० गुजराती साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है दि० विद्वानों को इससे स्फूर्तिदायक प्रेरणा मिलेगी और इस लेख के अतिरिक्त जितना साहित्य उपलब्ध है, उसकी खोज करके विशेष ज्ञातव्य प्रकट करेंगे एवं गुजरात निवासी दि० भाई अपनी मातृभाषा के साहित्य के उद्धार-प्रकाशन की ओर विशेष रूप से ध्यान देंगे।

## दि० गुजराती साहित्य की प्राचीनता एवं प्रगति—

दि० गुजराती भाषा की सर्वप्रथम रचना अद्यावधि सं० १५२० की मिली है, जिसके रचयिता ब्रह्म जिनदास हैं। सोलहवीं शताब्दी में केवल इसी कवि की कई रचनाओं का पता चला है। इसके बाद सत्रहवीं शताब्दी में अच्छी प्रगति हुई और उस समय के ११ गुजराती कवियों का पता चला है। अठारहवीं शताब्दी में रचना प्रवाह सूख सा गया, अतः केवल दो ही कवियों का अभी तक पता चला है। इसके पश्चात् की कोई रचना हमारे जानने में नहीं

* बडियावाड़ प्रान्त में दि० जैनों का ८वीं शताब्दी के पूर्व से सम्बन्ध था, प्रमाणित है।

† जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० २३८।

आई। संभव है गुजरात के दि० ज्ञानभंडारों में खोज करने पर अन्य अनेक कवियों एवं रचनाओं का पता चले। मैं भिन्न सम्प्रदाय का एवं गुजरात से दूर का ठहरा, अतः गुजरात प्रान्त के भाइयों से उस संबंध में विशेष जानकारी की आशा रखते हुए अपनी परिमित जानकारी ही यहां व्यक्त कर रहा हूँ।

## गुजराती भाषा के दि० जैनकवि एवं उनके ग्रन्थ

### सोलहवीं शताब्दी

१ ब्रह्मजिनदास :—ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के आचार्य सकलकीर्ति के शिष्य थे। इनकी रचित २० कृतियों की सूची मैंने अपने "श्रीपाल चरित्र साहित्य" में, जो कि 'अनेकान्त' वर्ष २, अंक २ में प्रकट हुआ था, दी थी; आपकी समस्त रचनाओं की भाषा गुजराती ही है या इससे भिन्न भी, यह अज्ञात है। अत नीचे इनमें से जितने ग्रन्थ निश्चित तथा गुजराती भाषा के हैं उन्हीं की नामावलि दी जाती है :—

(१) हरिवंश रास सं० १५२०　　(२) यशोधर रास
(३) आदिनाथ रास　　(४) श्रेणिक रास
(५) करकंडु रास　　(६) हनुमंत रास
(७) समकितसार रास　　(८) सासरवासर रास
(९) कर्मविपाक रास　　(१०) श्रीपाल रास
(११) प्रद्युम्न रास

(नं० १ से ८ का उ० जै० गु० क० भा० १-३)
(नं० ८ से ११ सूरत से प्रकाशित)

### सत्रहवीं शताब्दी

२ सुमतिकीर्त्तिसूरि :—ये भी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के भट्टारक थे। इनकी गुरुपरम्परा कृतियों के आधार से इस प्रकार ज्ञात होती है :—

पद्मनंदि, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानंदि, मल्लिभूषण (लघुवय में दीक्षा), लक्ष्मीचंद्रसूरि (सुमतिकीर्ति के दीक्षागुरु थे एवं इनके और भी अनेक शिष्य थे)—वीरचंद्र (१८ वर्ष तक अन्न, व्यंजन के त्यागी), ज्ञानभूषण (सुमतिकीर्ति के आचार्यपदप्रदाता), प्रभाचंद्र (गच्छपति, हुंवड ज्ञातीय)। इनकी रचित कृतियाँ इस प्रकार हैं :—

१ धर्मपरीक्षा रास (स० १६२५ मि० सु० २ महूआ में आरंभ, हांसोट में पूर्ण)।
२ त्रैलोक्यसार-धर्मध्यान चौपई, स० १६२७ मा० सु० १२ कोदादा मे रचित।
३ लोंकामत निराकरण चौ० सं० १६२७ वै० सु० ५ र० कोदादा।

इनमें से नं० २ की प्रति नं० ३ की प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है। नं० ३ का कुछ परिचय मैंने अपने लोंकासाह और दि० साहित्य लेख मे प्रकाशित किया था जो जैनसिद्धान्त भास्कर के भाग ४, किरण १ मे प्रकाशित हुआ था।

३ रत्नभूषण—आप उपर्युक्त सुमतिकीर्ति सूरि के शिष्य थे। इनके रचित १ रुक्मिणी-हरण (आ० व० ११ सूरत) उपलब्ध है।

४ वादीचंद्र—आप सुमतिकीर्ति के गुरुभ्राता एवं प्रभाचंद्र के शिष्य थे। इनकी रचित एक श्रीपाल आख्यानक कथा (सं० १६५१ संघपति धनजी सवा के वचन से रचित) उपलब्ध है।

५ ब्र० मेघराज—ये ब्रह्मजिनदास के गुरु सकलकीर्ति के शिष्य भुवनकीर्ति के शिष्य ज्ञानभूषण शि० विजयकीर्ति शि० शुभचंद्र शि० सुमतिकीर्ति, शि० गुणकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने ब्रह्म जिनदास के रचित ग्रन्थ के अनुसार एक शांतिनाथ चरित रास (सं० १६१७ लिखित प्रति उपलब्ध) एवं दूसरा श्रावण द्वादशी फल रास बनाया।

६ ब्र० वस्तुपाल—ये उपर्युक्त मेघराज के गुरुभ्राता एवं सुमतिकीर्ति गुणकीर्ति के शिष्य थे। इनका रचित एक रोहिणीव्रत प्रबंध (सं० १६५४ आषाढ़ सुदी ३ सोम भावनो, रायदेश) उपलब्ध है।

७ नरेन्द्रकीर्ति—आप गुणकीर्ति पट्टधर वादीभूषण—सकलभूषण के शिष्य थे। इन्होंने सं० १६५ के मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को मेवाड के जाउरपुर में ब्रह्म नेमिदास के कथन से एक अंजना रास बनाया।

८ परमु—ये शुभचंद्रसूरि एवं विनयचंद्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने एक ध्यानामृत रास बनाया।

९ धर्मभूषण—ये देवेन्द्रकीर्ति के पट्टधर धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनकी रचित एक चपकवनी, शीलपताका चोपई (वै० सु० २ दक्षिणदेश सुरजालहणा में रचित) उपलब्ध है।

१० ब्रह्म रत्नकीर्ति—इनके रचित एक भविष्यदत्त चौ (सं० १६६३ का० सु० १४ सांगानेर) की प्रति बीकानेर के भगवानचंद जी भाल्लू के संग्रह में है।

११ देवेन्द्रकीर्ति—ये वादीभूषण के शिष्य रामकीर्ति के शिष्य थे। इनकी रचित एक प्रद्युम्न कथा रास उपलब्ध है।

अट्ठारहवीं शताब्दी

१२ ब्र० ज्ञानसागर—काष्ठासंघीय श्रीभूषण के शिष्य थे। इनकी रचित निम्नोक्त छोटी छोटी व्रत कथायें उपलब्ध हैं—

| | |
|---|---|
| १ अनंतचतुर्दशी कथा गा० ५५ | ५ रत्नत्रय व्रतकथा गा० ४४ |
| २ सुगंधदशमी कथा गा० ४२ | ६ सोलहकारणकथा गा० ३४ |
| ३ दशलाक्षणिक कथा गा० ५५ | ७ निर्दोषसप्तमी कथा गा० ४१ |
| ४ अट्ठाहीव्रत कथा गाथा ४३ | ८ आकाशपंचमी कथा गाथा ५९ |

(ये सब कथायें सं० १७८९ लिखित प्रति में हैं।)

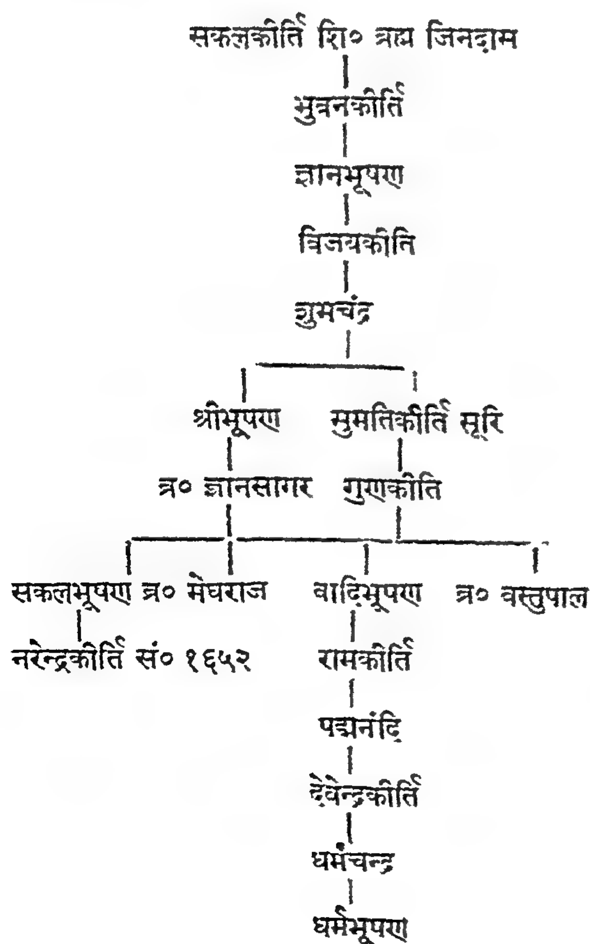
१३ जयसागर ये नं० ४ वादीचंद्र के शिष्य महीचंद्र के शिष्य थे। इन्होंने सं० १७३२ मि० सु० १३ हांसोट में महीचंद्र शि० जीवधर ज्ञाता के वचन से अनिरुद्ध हरण ग्रन्थ बनाया।

इस शताब्दी के अन्य एक दि० कवि सूर का पता चलता है। पर वास्तव में उसने श्वे० सूरविजय रचित रत्नपाल रास की प्रति में कुछ रद्दोबदल कर उसे ही अपने रचित बतलाने की असफल चेष्टा कर साहित्यिक अपराध किया है। देखें जैनगुर्जर कविओ भा० ३, पृ० १२३।

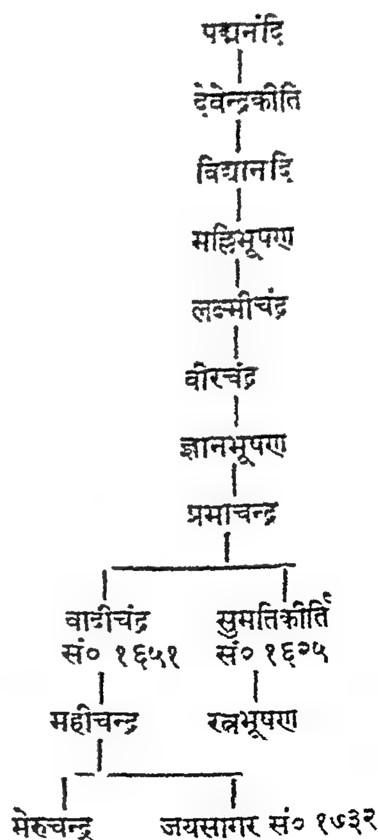
इस लेख के लिखने में जैन गुर्जर कविओ भाग १, २, ३, से पूर्ण सहायता ली गई है जिनमें भाग ३ अप्रकाशित है।

उपर्युक्त रचनाओं से दि० सम्प्रदाय के मूल संघ सरस्वती गच्छ, बलात्कारगण की दो भट्टारक परम्परा का अच्छा परिचय मिलता है, पता नहीं अब इनकी परम्परा विद्यमान है या नहीं। इनकी पट्टावलि मिलती हो तो प्रकाशित करना चाहिये। कृतियों से ज्ञात परम्परा की नामावलि इस प्रकार है—

परम्परा नं० १




परम्परा नं० २



दि० सम्प्रदाय के भट्टारक एवं मुनि परम्परा की पट्टावलियों का भी कोई समग्र ग्रन्थ अभी तक प्रकट नहीं हुआ। अतः दि० समाज को अपनी पट्टावलियों के संग्रह को शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये जिससे अनेक नवीन ज्ञातव्य प्रकट हो सके। आशा है दि० विद्वान् इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।

## परिशिष्ट

इस लेख के भेज देने के बाद श्री मूलचन्द किसनदास कापडिया से १ लेख एवं ग्रन्थ मिला जिससे सूरत की भट्टारक परम्परा एवं दि० गुजराती साहित्य के बहुत से नये ग्रन्थों का पता चला। गुजरात में इडर एवं सूरत में दि० भट्टारकों की गद्दियाँ थीं पर अब दोनों गद्दीयाँ खाली हैं। सूरत की शाखा के भट्टारकों की रचना बहुत विशाल है, अतः दि० विद्वानों को विशेष अनुसन्धान कर ज्ञातव्य प्रकट करना चाहिये। प्रस्तुत लेख में उल्लिखित दि० गु० ग्रन्थों के अतिरिक्त कापडिया जी के लेख से ज्ञात ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है

| | |
|---|---|
| सुदर्शनचरित्र, सकलकीर्ति, लि० १५६४ | मोहनवधन व लोहनरास सुमतिकीर्ति |
| रामसीतारास—ब्रह्म सीधना | समाधितन्त्र (गु० पद्य)। |
| तत्वार्थटीका—दीवसीमजी | पद्मपुराण रामपुराण—खुशालदास लि० १७८३ |
| श्रेणिकप्रश्नोत्तर गुणभूषण लि० २ स० १६३० | यशोधररास |
| चन्द्रप्रभुचरित्र—भ० यशकीर्ति र० लि० १८५५ | सम्यक्त्वकौमुदी—भ० यशःकीर्ति |
| आदिनाथफाग—ज्ञानभूषण | जीवधररास—ज्ञानभूषण |
| सगरचक्रवर्तीरास—ब्रह्म जयसागर र० १७१७ | श्रावकाचाररास |
| रामायणरास—ब्रह्म जिनयसागर | रामपुराणभाषा—ब्रह्म जिनदास र० १५७८ (?) |
| रणुकारास—ब्रह्म जिनदास | सीताहरणादि ३ रास—ब्रह्म जयसागर लि० १७३२ |
| आराधनाप्रतिबोध कथायें—ब्रह्म जयसागर लि० १७३२ | |
| धन्नीमद्रआख्यान—ब्रह्म श्रीदयासागर र० १७३२ | |
| हनुमान कथा—सूरदास र० १६१६ | पञ्चविधानरास—भ० शुभचन्द्र लि० १७२१ |
| धर्मपरीक्षारास—ब्रह्म श्रीचन्द्रसागर र० १६२५ | आदित्यवारकथा—ब्रह्म श्रीसागर |
| आदिसमोसरणरचना—सुरेन्द्रकीर्ति लि० १७४७ | |
| चन्द्रनाथमपरीनादि ८ रास—वादिचन्द्र, प्रभाचन्द्र र० १६२५ स० १७७० | |
| अमरदत्तरास—जयकीर्ति | कर्मविपाकरास—गणेशजी |
| गभाख्यान—रत्नभूषण | महावीररास—शुभचन्द्र |
| शांतिनाथचरित्र—ब्रह्म जयसागर स० १७४५ | देवेन्द्रास र० १६३९ |

# तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ ले०—श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए० ]

( क्रमागत )

२ आक्षेप—सिद्धसेनगणि सूत्र और भाष्य का एककर्तृत्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रवल प्रमाण नहीं देते। वे तो सूत्रकार को सूरि और भाष्यकार को भाष्यकार कह कर दोनों को भिन्न-भिन्न ही सूचित करते हैं, तथा 'शास्तीति च ग्रन्थकारः' आदि और 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकारः' आदि दोनों स्थलों पर सिद्धसेन को उत्पन्न होनेवाली सन्देह की रेखा, और खींचातानी द्वारा उसके परिमार्जन की चेष्टा, स्पष्ट है।

२ उत्तर—सिद्धसेन का एककर्तृत्व मे प्रवल प्रमाण न देने की वात वड़ी अनोखी है। जव सिद्धसेन सूत्र और भाष्य दोनों पर टीका लिख रहे हैं, सूत्र और तद्गत भाष्य पर अक्षरशः लेखनी चला रहे हैं, तथा सूत्र और भाष्य का भिन्नत्व एक भी स्थल पर सूचित नहीं करते तथा अन्त मे उमास्वातिवाचक के वंश, गोत्र, स्थान आदि का परिचय तक देते हैं फिर इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये? यह तर्क इसी तरह का है जैसे कोई कहे कि अभयनन्दि ने देवनन्दि के सूत्र और सूत्रवृत्ति का एककर्तृत्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रवल प्रमाण नहीं दिया, अतएव जैनेन्द्र-प्रक्रिया के कर्ता देवनन्दि नहीं हो सकते। सिद्धसेन सूत्र और भाष्यकार को एक मानते थे, यह वात उनके निम्न उल्लेखों से अत्यन्त स्पष्ट है—

(अ) एतच्च यथा तु स्थितं चातुर्विध्यं तथा भाष्यकार एव उत्तरत्र दर्शयिष्यति (१-१) अर्थात् प्रमाणचातुर्विध्य किस तरह ठीक नहीं वैठता, इस वात को भाष्यकार स्वयं आगे चल कर पहले अध्याय के वारहवे सूत्र (प्रत्यक्षमन्यत्) मे वतायेंगे (पृ० ५२)।

(आ) सूत्रावयवं स्पष्टतरेण वृत्तिवाक्येन व्याचष्टे—अर्थात् (ग्रन्थकार ने) सूत्रावयव को स्पष्टरूप से वृत्तिवाक्य (भाष्यवाक्य) द्वारा कहा है (पृ० ३३३)।

(इ) स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्—अर्थात् स्वकृतसूत्र-सन्निवेश के आश्रय से कहा है (पृ० २५३ दूसरा भाग)।

(ई) भाष्यकारस्तु "पूर्वविद" इति सूत्रावयवं पृथग् विवृणोति— अर्थात भाष्यकार तो "पूर्वविद" इस सूत्रावयव को अलग लिखते हैं (पृ० २७५)।

सूत्र और भाष्य का ही नहीं, परन्तु भाष्यगत आदि और अन्त की संबंधकारिकाओं का भी सिद्धसेन ने निम्न शब्दो मे एककर्तृत्व स्वीकार किया है—

(अ) अमुनाऽप्याचार्येणोक्तं—"ज्ञानैः पूर्वाधिगतै." (संबंधकारिका १२)—(पृ० १५४)।

(आ) दशमेऽध्याये (१९ तम) कारिकाभाष्येण व्याख्यास्यते "तन्वी मनोज्ञा सुरभि, पुण्या परमभासुरा" इत्यादिनेति (पृ० २३०)।

यह कहना कि सिद्धसेन ने सूत्रकार को सूरि और भाष्यकर्ता को भाष्यकार कह कर दोनों का अलग अलग उल्लेख किया है, सर्वथा मिथ्या है। यह बात निम्न उद्धरणों से स्पष्ट होगी—

(अ) 'सर्वस्य" इत्यत्रसूत्रे तैजसयोगमाचार्यो अन्यमतेन निराकरिष्यति (पृ० १७९) - यहाँ 'आचार्य' का अभिप्राय सूत्रकार से है।

(आ) अत्र आचार्येणानहून काण्ड नोपात्त (पृ० २३०) यहाँ आचार्य' का अभिप्राय भाष्यकार से है।

(इ) प्रावचनक्रमोऽयम्, आचार्येण त्वन्यथोपात्त (पृ० २९३ ४,—यहाँ भी 'आचार्य' से भाष्यकार के वाक्य ही अपेक्षित हैं।

(ई) ऊर्ध्वं सौमनसान्नन्दनवनाबाधो न सूरिणा परिहाणिरुक्ता (पृ० २५२)—यहाँ 'सूरि' कहकर भाष्यकार के वचनों का संकेत किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सिद्धसेन को लेशमात्र भी सन्देह नहीं। एक ही ग्रंथकार को वे वाचक, वाचकमुख्य, सूरि, आचार्य सूत्रकार आदि शब्दों द्वारा उल्लेख करते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भाष्य के वाचक, वाचकमुख्य आदि अनेक कर्ताओं का सिद्धसेन ने उल्लेख किया है।

'शास्त्राणि च ग्रंथकार.' और 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकार' इन वाक्यों में, समझ में नहीं आता सिद्धसेन का सन्देहजन्य खींचातानी कैसे टपकी पड़ती है। प्रत्युत इन वाक्यों से तो सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता ही स्पष्ट मालूम हो रही है। "सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो विभागमादर्शयति, व्युच्छित्तिनयसमाश्रयणात्"—अर्थात व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा भाष्यकार सूत्रकार से अविभक्त होने पर भी विभाग का प्रदर्शन करते हैं। इससे सिद्धसेन की कौन सी सदिग्धता प्रकट होती है? क्या आप बात सम्पादक कुछ प्रकाश डालेंगे? इससे तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सिद्धसेन सूत्र और भाष्यकार दोनों को एक मान रहे हैं। इसी तरह 'शास्त्रीति च ग्रंथकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह"—अर्थात् ग्रंथकार ही अपने आपको सूत्रकार और भाष्यकाररूप में विभक्त करता है इन वाक्यों द्वारा भी सिद्धसेन सूत्र और भाष्य की असंदिग्ध स्वोपज्ञता ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ ऐसे कौन-से वाक्य हैं जिनसे उनका सन्देह अथवा खींचातानी प्रकट होते हों? शायद इसी तरह की युक्तियों द्वारा लेखक अपने आपको 'दिव्यचक्षु' सिद्ध करना चाहते हैं। इस तरह के और भी उदाहरण सिद्धसेन की टीका में से दिये जा सकते हैं, जहाँ

सिद्धसेन ने सूत्र और भाष्यकार के एककर्तृत्व का पूर्ण समर्थन किया है। "अनुश्रेणि गतिः" सूत्र के भाष्य में 'पुद्गल' शब्द आया है। इस पर सिद्धसेन शंका उठाते हैं कि जब "अनुश्रेणि गतिः" सूत्र में 'पुद्गल' शब्द नहीं आया, तो वह भाष्य में कहाँ से टूट पड़ा? इसके उत्तर में सिद्धसेन कहते हैं कि सूत्र में लाघवापेक्षा इष्ट रहती है, अतएव 'पुद्गल' शब्द सूत्र में न होने पर भी भाष्य में आ गया है। "पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः" की टीका में भी इसी तरह की शंका की गई है कि सूत्र में 'काय' शब्द न होने पर भी भाष्य में कहाँ से आ गया? इसके उत्तर में भी सूत्रकार को लाघवार्थी बताकर समाधान किया गया है। इस तरह के उदाहरण यही सिद्ध करते हैं कि सिद्धसेन अत्यन्त असंदिग्धरूप से सूत्रकार और भाष्यकार को एक मानते हैं। इसीलिये तो वे सूत्र और भाष्य की संगति बैठा कर दोनों पर टीका लिख रहे हैं।

३ आक्षेप— उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पद में 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यते' इस नियम के अनुसार उमास्वातिवाचकोपज्ञ विशेषण प्रत्येक विशेष्य (सूत्र और भाष्य) के साथ लगाया जा सकता था, लेकिन व्याकरण का उक्त नियम असंदिग्ध अवस्था में लागू होता है। जहाँ संदिग्धता रूप विवादस्थ विषय हो, वहाँ यह नियम नहीं लगता। यहाँ का विषय संदिग्ध इसलिये है कि उक्त वाक्य सिद्धसेनगणीय टीका के केवल सप्तमाध्याय के अन्त में आया है, अन्य अध्यायों के नहीं। इसके अतिरिक्त सिद्धसेनगणि सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सर्वथा असंदिग्ध न थे। यदि वे असंदिग्ध होते, तो 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रभाष्ये' अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रे, उमास्वातिवाचकोपज्ञे भाष्ये च' ऐसा स्पष्ट लिखते। अतएव उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये—यह पद प्रथमान्त द्विवचन है। इससे मेरा आशय है कि सूत्र और भाष्य दोनों ही उमास्वातिकृत नहीं हैं, केवल सूत्र ही है।

३ उत्तर—सिद्धसेन गणि की असंदिग्धता में ऊपर पुष्ट प्रमाण दिये जा चुके हैं। जब सिद्धसेनगणि सभाष्यतत्त्वार्थ की टीका लिखते समय सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय में इतने असंदिग्ध रहे हैं—उनकी समस्त टीका में एक स्थल पर भी संदेह की गुंजायश नहीं, तो फिर उनके संधिवाक्य से उनकी संदिग्धता कैसे सिद्ध की जा सकती है? अतः ऐसी हालत में "द्वंद्वादौ वा श्रूयमाणं" आदि उल्लिखित नियम के अनुसार यहाँ समस्यत पद मानकर क्यों न सरल और स्वाभाविक अर्थ किया जाय? सूत्र और भाष्य का जबर्दस्ती भिन्न कर्तृकत्व सिद्ध करने के लिये उक्त पद को प्रथमान्त द्विवचन मानने का ऐसा क्या खास आग्रह है? उक्त वाक्य केवल सिद्धसेनटीका में सातवें अध्याय में ही क्यों मिलते हैं, एतद्विषयक संदिग्धता का समाधान तो आपने प्रतिलेखकों को निरंकुश मानकर स्वयं कर दिया है। अतः यदि प्रतिलेखक निरंकुश न होते, तो सम्भवतः अन्य अध्यायों में भी यही संधिवाक्य

दृष्टिगोचर होना, ऐसा क्यों न मान लिया जाय? उक्त पद को प्रथमान्त द्विवचन मानकर भी आपकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। 'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वाति प्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं' इसमें उमास्वाति प्रतिपादित सूत्र ही है भाष्य नहीं, यह अर्थ कौनसे व्याकरण के नियम ■ निकलता है, यह बताने की जरा भी कृपा नहीं की गई। तथा श्री तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्यायः इन संधि वाक्यों का अर्थ करने का भी कष्ट नहीं उठाया गया। सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सिद्धसेन सर्वथा असन्दिग्ध थे, इसलिये जो ऊपर असमासांत भिन्न भिन्न पदों के देने की बात है, उसका स्वतः खंडन हो जाता है। उदाहरण के लिये इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञ धर्मामृतसागारधर्मदीपिकायां आदि वाक्यों में आशाधर ने असमासांत भिन्न भिन्न पद क्यों नहीं दिये? आशाधर जी को भी लिखना चाहिये था—स्वोपज्ञधर्मामृतसागारधर्मे, स्वोपज्ञदीपिकायां च। इसी तरह सिद्धसेन के विषय में भी समझना चाहिये। किसी पद में समास हो सकने की संभावना होने पर भी समास का उपयोग न करना, यह रचनादोष है।

४ आक्षेप—यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां इस श्वेताम्बर सूत्र में यथोक्त निमित्त' पद का अर्थ क्षयोपशमनिमित्त' किया गया है। इससे मालूम होता है कि सूत्र और भाष्यकार जुदे जुदे थे।

४ उत्तर—यदि लेखक महोदय उक्त सूत्र के पूर्व दो सूत्र देखते, तो यह शंका न होती। इससे पहले का एक सूत्र है—द्विविधोऽवधिः। यहाँ अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षयोपशम-निमित्त—ये दो भेद बताये जा चुके हैं। इसीको ध्यान में रखकर यथोक्तनिमित्त का अर्थ क्षयोपशमनिमित्त किया गया है। इसमें अर्थ की कोई असंगति नहीं। अतएव जो उक्त अर्थ को दिगम्बरीय सूत्र या उसके भाष्य से ले लेना बताया है, वह निर्मूलक है।

## (३) वृत्ति

१ आक्षेप—शब्दस्तोममहानिधि कोष में रचना के भेदों में सात्वती रचना का भेद भी है। सात्वती सत् शब्द से बना है, जिसका अर्थ सार होता है, और सूत्र भी सारता को लिये होता है, अतः सात्वती और सौत्री एक अर्थ के वाचक हैं। "तथा भवप्रत्ययोऽवधि देवनारकाणां' सूत्र के वार्तिक भाष्य में 'देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः" इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है कि यहाँ वृत्तौ' का अर्थ सूत्ररचना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता" (सम्पादक अनेकान्त का फुटनोट)।

१ उत्तर—ऊपर जो कोष प्रमाणपूर्वक सात्वती और सौत्री को पर्यायवाची मानकर तथा राजवार्तिक का उद्धरण उपस्थित कर इष्टसिद्धि करने का प्रयत्न है, वह कितना भ्रमोत्पादक और हास्यास्पद है यह बात निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होगी। बात यह है कि साहित्यदर्पण

आदि ग्रन्थों मे दो प्रकार की वृत्ति बताई है, एक शब्दवृत्ति दूसरी अर्थवृत्ति। अर्थवृत्ति के तीन भेद हैं—कौशिकी (कैशिकी), सात्वती और आरभटी: शब्दवृत्ति एक तरह की है—भारती। उक्त चारों वृत्तियाँ नाट्य की वृत्तियाँ हैं, और इन वृत्तियों का वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों मे आता है। सात्वती वृत्ति का नाट्यशास्त्र मे निम्न लक्षण किया गया है—

या सत्त्वजेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
वागङ्गाभिनयवती सत्त्वोत्थानवचनप्रकरणेषु।
सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः॥

इस लक्षण मे 'सूत्ररचना' अर्थ को गंध तक नहीं। यहाँ हर्षोत्कट शोकरहित भावयुक्त, वाक् और अंग के अभिनय वाली वृत्ति को सात्वती वृत्ति कहा है। मालूम होता है शास्त्री जी ने 'सात्वती' शब्द का वास्तविक अर्थ बिना समझे, उसकी निष्पत्ति सत् शब्द से वतुप् आदि लगाकर झट से कर डाली, और 'सत्' तथा 'सूत्र' शब्दों का अर्थ 'सार' मानकर सात्वती और सौत्री का गँठजोड़ा कर दिया। आश्चर्य है कि इतना सब गोलमाल करने पर भी आप 'दिव्यचक्षु' कहलाने का अधिकार समझते हैं और सम्पादक-अनेकांत आपकी पीठ ठोकते हैं। कितनी भी खींचातानी की जाय लेकिन वृत्ति का अर्थ 'सूत्ररचना' कभी नहीं होता, और खासकर राजवार्तिक के प्रस्तुत प्रकरण मे। अनेकांत-सम्पादक ने जो वृत्ति का अर्थ 'सूत्ररचना' बताया है वह भी नितान्त भ्रममूलक है, और इसलिये सम्पादक जी ने 'सत्यानुसन्धान के नाते अपने दावे को वापिस लेने की हिम्मत' आदि की जो बात कही है, वह उन्हीं के लिये अधिक लागू है। लेकिन उन्होंने तो 'पर-उद्धार' का ठेका ले लिया है वे 'स्व-उद्धार' की बात क्यों सुनने लगे! खैर, राजवार्तिक के उक्त वाक्यों मे वृत्ति का अर्थ समास है, सूत्र अथवा सूत्ररचना कभी नहीं। अल्पाच् और अभ्यर्हित होने के कारण देव शब्द का जो पूर्व निपात बताया गया है, वह सूत्रस्थ द्वन्द्वसमास को लक्ष्य में रखकर बताया है। मेरी यह व्याप्ति नहीं कि जहाँ कहीं भी राजवार्तिक में वृत्ति शब्द आया है, उस सब का लक्ष्यभूत तत्त्वार्थभाष्य है। संभवतः यह व्याप्ति तो आपलोगों की है कि जहाँ कहीं राजवार्तिक में वृत्ति शब्द है, वह 'सूत्ररचना' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मालूम होता है कि वृत्ति का अर्थ शिवकोटीय वृत्ति छोड़ कर, अब अनेकांत-सम्पादक भी सूत्र-रचना ही मानने लगे हैं। राजवार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक में अन्य स्थलो पर भी 'वृत्ति' शब्द समास अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

(अ) अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः ॥१॥ अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या (राजवार्त्तिक पृ० १८७)।

* तुलना कीजिये—मनोव्यापाररूपा सात्विकी सात्वती सदिति प्रकाशरूपं संवेदनं, तद्यत्रास्ति तत्सत्त्वं मनस्तस्येयमिति (अभिनवगुप्तटीका, पृ० २०)।

(आ) स्यान्मतं वृत्तिरत्र न्याय्या स्वयमान्योगत्वातिशौचानीति (राज० पृ० २६१)।

(इ) नवादीनां भेदशब्दोपसहितानामन्यपदार्थे वृत्तिर्भवति नव च चत्वारश्च दश च पंच च द्वौ च भेदा अस्य नवचतुर्दशपंचद्विभेदमिति (राज० पृ० ३४३)।

(ई) यथोष्ट्रस्य मुखमुष्ट्रमुखं, उष्ट्रमुखमिव मुखमस्येति वृत्तावेकस्य मुखशब्दस्य निवृत्ति (राज० पृ० ६२ ३)।

(उ) विग्रहाय गति विग्रहगति अव्ययासादिवदत्र वृत्ति (श्लोकवार्तिक ३३१)।

(ऊ) अत्र तृतीयातत्पूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्ति दध्योदनवत् (श्लो०, ३५५)।

इत्यादि अनेक स्थलों पर अकलंक और विद्यानन्दि ने वृत्ति शब्द को समास अर्थ में लिया है। लेकिन उसका अर्थ कहीं भी सूत्ररचना नहीं किया। उक्त स्थल शिवकोटीय वृत्ति के भी द्योतक नहीं। स्वयं जैनेन्द्रव्याकरणकार ने अपने व्याकरण में वृत्ति का अर्थ समास किया है —

(अ) वृत्तौ कृतशब्दार्थान्तर्भूत इति न कृतशब्द प्रयुज्यते (पृ० १३६)।

(आ) मयूरव्यंसक इत्येवं प्रभृतय कृतवृत्तिपूर्वनिपाता निपात्यते (१३९)। लघुकौमुदी व्याकरण में भी कृततद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपा पंचवृत्तय (पृ० १०६) लिखकर कृदन्त, तद्धित, समास आदि पाँच वृत्तियाँ बताई गई हैं। अत वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना करना बड़ा भारी भ्रम है। क्या अनेकान्त सम्पादक अपनी अनर्थकारक भूल स्वीकार करेंगे ?

२ आक्षेप—वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना यहाँ प्रकरणसबद्ध है। 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि राजवार्तिकगत वार्तिक में दिगम्बरसूत्र रचना पर शंका उठाई है। बात यह है कि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्र तक तथा आगे भी सूत्ररचना में पाँच द्रव्यों का ही कथन है छह का नहीं। "अतएव नित्यावस्थितानि" सूत्रगत तीसरे वार्तिक में 'अवस्थितानि' शब्द की व्याख्या करते हुए जो द्रव्यों की इयत्ता का प्रमाण छह बताया गया है, उसीको लेकर अकलंक की शंका है कि—वार्तिके वा वार्तिकभाष्ये भवता उक्तानि धर्मादीनि षड्द्रव्याणि परतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अत कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरन्ति। दूसरी बात जिस वृत्ति के ऊपर अकलंक ने शंका उठाई है, यदि उस वृत्ति का अर्थ तत्त्वार्थभाष्य अभिप्रेत है तो वृत्तिगत शंका का परिहार वृत्तिगत सूत्र 'कालश्चेत्येके' से ही होना चाहिये था, तथा जब आपने लेखांक (३) में उमास्वाति के अनुसार छह द्रव्यों की मान्यता सिद्ध की है, तो फिर राजवार्तिकगत पंचत्व की शंका उमास्वातीय तत्त्वार्थभाष्यगत कैसे हो सकती है ?

२ उत्तर—ऊपर कहा जा चुका है कि वृत्ति शब्द का प्रयोग राजवार्तिककार ने समास (द्वन्द्वसमास आदि) अर्थ में बीसों जगह किया है। ऐसा एक भी स्थल नहीं, जहाँ उन्होंने 'वृत्ति' शब्द सूत्र रचना के अर्थ में व्यवहृत किया हो। जहाँ कहीं सूत्ररचना के विषय में वे कुछ कहना चाहते हैं वहाँ स्पष्टरूप से "सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य इदमुक्तं॥ (राजवार्तिक पृ०

१९८) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं. वृत्ति शब्द का नहीं। अतएव 'नित्यावस्थितानि' सूत्रगत तीसरी वार्तिक मे आगत विषय के साथ जो उसका संबंध बैठाया जा रहा है. उसका कोई अर्थ नहीं। "स्यान्मत वृत्तावुक्तमवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्व व्यभिचरंति" आदि अकलंक के वाक्यों का—वार्तिके वार्तिकभाष्येवा भवता उक्तानि धर्मादीनि षड्द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनाया) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरंति—अर्थ करके, फिर यही कहना होगा कि राजवार्तिक पर अभूतपूर्व भाष्य सर्जन करके अनधिकारचेष्टा की जा रही है। शास्त्री जी के उक्त भाष्य में 'वार्तिके वार्तिकभाष्ये वा भवता' ये शब्द कहाँ से आ कूदे? 'परन्तु' शब्द कहाँ से आ गया? ये सब शब्द अध्याहार मे तो आये नहीं। तथा ऐसा कौन-सा दिगम्बरीय सूत्र या सूत्र-रचना है, जहाँ पाँच ही (पंचैव) द्रव्य बताये हैं।* अतएव राजवार्त्तिककार के वाक्यों को स्पष्ट करने के लिये जो स्वभाष्य रचा गया है, वह सदोष है। वस्तुत. बात क्या है कि 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र के तीसरे वार्तिक में 'अवस्थितानि का अर्थ करते हुए धर्मादि षड्द्रव्यों की इयत्ता का जो उल्लेख किया गया है, उसीको लेकर 'वृत्तौ पचत्ववचनात आदि वार्त्तिक में कहा गया है कि ऊपर तो अभी अपने 'अवस्थित' शब्द का अर्थ किया है कि द्रव्य अपनी छः की इयत्ता का उल्लंघन नहीं करते, परंतु 'वृत्ति' मे तो 'अवस्थितानि' पद का अर्थ दूसरा ही किया गया है कि "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति". अर्थात् धर्मादि का पंचत्व से कभी व्यभिचार नहीं. अर्थात् 'वृत्ति' में कहा है कि धर्मादि पाँच ही द्रव्य हैं, छः नहीं। इसके उत्तर मे अकलंक कहते हैं कि 'वृत्ति' के उक्त उल्लेख के कारण षड्द्रव्यत्व का व्याघात नहीं होता, क्योंकि तुमने वृत्तिकार का अभिप्राय नहीं समझा। वृत्तिकार का यह अभिप्राय है (अयमभिप्रायो वृत्तिकारणस्य) कि 'कालश्च' रूप से आगे चलकर काल का लक्षण कहा जायगा, अतएव यहाँ काल की अनपेक्षा से द्रव्य-पचत्व का कथन है। यहाँ वृत्तिकरणस्य' का अर्थ सूत्रकार अथवा सूत्र-रचनाकार त्रिकाल मे भी नहीं हो सकता। तथा उमास्वातीय दिगम्बरीय कोई सूत्र ऐसा नहीं, जिसमें 'धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्व व्यभिचरति" इतना बड़ा सूत्र हो; तथा जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दिगंबरीय सूत्रो मे ऐसा कोई स्थल भी नहीं जहाँ 'धर्मादिक का कभी पंचत्व से व्यभिचार नहीं' इतने बलपूर्वक द्रव्यपंचत्व का प्रतिपादन हो। यह बात दूसरी है कि 'नित्यवस्थितानि' आदि सूत्र तक तथा आगे भी पाँच द्रव्यो का सामान्य कथन आया हो, और वह तो आता ही। एक बात और है। काल द्रव्य को लेकर सौत्रीरचना पर शंका उठाने का अवसर तो "अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः" सूत्र मे है। और अकलंक ने यहाँ शंका उठाकर पूछा भी है कि धर्माधर्मादि द्रव्य गिनाते हुए कालद्रव्य क्यो नहीं गिनाया? उसका उत्तर अकलंक

* तदेवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशभेदात्पंचविधत्वेन द्रव्यं इति वर्तते प्रत्याह—"कालश्च" (श्लोकवार्तिक, पृ० ४३९)—यहाँ 'पचविधत्वेन द्रव्यं' कहकर विद्यानन्दि भी श्वेताम्बरीय द्रव्यपंचत्व की मान्यता का ही निर्देश करना चाहते हैं, क्योंकि दिगम्बरों में तो छः ही द्रव्य हैं।

ने दिया है कि आगे चलकर उसका लक्षण कहेंगे (वार्त्तिक १६ और ३६)। जब सौत्री-रचना पर काल को लेकर यहाँ शका समाधान कर चुके, तो फिर से वही शका 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र में उठाने का क्या प्रयोजन ? अतएव मानना होगा कि नित्यावस्थितानि' सूत्र के विवादास्पद वार्त्तिकभाष्य में सौत्री रचना पर शका नहीं उठाई, यहाँ तो 'अवस्थित शब्दार्थ का स्पष्टीकरण किया है, और बताया है कि हमारे कथन में और 'वृत्ति' के कथन में कोई विरोध नहीं आता॥ अब दूसरा शका होती है कि जब वृत्ति शब्द से अकलक को तत्त्वार्थभाष्य इष्ट था तो उन्होंने भाष्यगत सूत्र 'कालश्चेत्येके' क्यों नहीं दिया ? इसका सक्षिप्त उत्तर पूर्व लेख में आ चुका है। सबसे पहली बात तो यह है कि "कालश्चेत्येके" सूत्र के भाष्य में 'एकत्याचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति' लिखकर यद्यपि उमास्वाति ने कालद्रव्य के सबध में किन्हीं आचार्यों का मतभेद सूचन किया है, फिर भी कुछ लोगों को उक्त सूत्र से यह सदेह होता था कि स्वय उमास्वाति काल द्रव्य को मानते हैं या नहीं। यही कारण है कि सिद्धसेनगणि तक 'वाचकमुख्यस्य तु पचैव' कहकर यह लिख गये कि उमास्वाति पाँच ही द्रव्य मानते हैं, यद्यपि आगे चलकर उन्होंने उमास्वाति के मत से ही छह द्रव्य बताये हैं (विशेष के लिये देखो लेखाक ३)। ऐसी हालत में यदि अकलक भी 'कालश्चेत्येके' सूत्र उद्धृत करते, तो उससे षड्द्रव्यत्व की शका का समाधान होने के बदले शकाकार की सन्देहवृद्धि ही होती जिसका समाधान फिर से अकलक को करना पड़ता। दूसरी बात, अकलक पूज्यपादसम्मत दिगम्बरीय सूत्रों को ठीक मानते थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर तत्त्वार्थभाष्यगत सूत्रों का खडन किया है अतएव उन्होंने दिगम्बरीय सूत्र का ही उद्धरण दिया। यदि कहा जाय कि जब वे भाष्यगत सूत्र ही न मानते थे, तो उन्होंने भाष्यगत वाक्योल्लेखपूर्वक काल द्रव्य के सबध में शका ही क्यों उठाई तो इसका उत्तर है कि अकलक की दृष्टि में तत्त्वार्थभाष्य एक महत्त्वपूर्ण लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ था, जिसकी उपेक्षा करना उनके लिये अशक्य था। उन्होंने इस भाष्य में से अनेक स्थलों पर भाष्य के वाक्य स्वग्रन्थ में भी लिये हैं यद्यपि अमुक कारणों को लेकर दिगम्बरों ने उसे मानना छोड़ दिया था। अकलक को यह सह्य नहीं हो सका कि तत्त्वार्थभाष्य जैसे ग्रन्थ को लेकर लोग द्रव्यपचत्व जैसे जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में शका उपस्थित करें, यद्यपि दिगम्बर परम्परा विरुद्ध वस्त्र पात्र आदि की भाष्यगत मान्यताओं का उन्होंने निरसन भी किया है, इससे उनकी गुणग्राहिता और तत्त्वनिष्ठता का ही पता लगता है। इससे इस आक्षेप का भी निरसन हो जाता है कि जब उमास्वाति के अनुसार छह द्रव्य सिद्ध किये गये हैं, तो राजवार्त्तिकगत पचत्व की शका का लक्ष्य प्रस्तुत भाष्य कैसे हो सकता है। लेखाक (३) में विस्तार से बताया जा चुका है कि "कालश्चेत्येके" सूत्र तथा 'न हि कदाचित्पचत्व भूतार्थत्व च व्यभिचरति" यह 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत भाष्य-वाक्य द्रव्यपचत्व की शका के उत्पादक थे। वस्तुत उमास्वाति छह ही द्रव्य मानते थे। अकलक ने "न हि कदाचित्" आदि भाष्यगत वाक्य पूर्व पक्ष में रख कर षड्द्रव्य विषयक समाधान करके इस कथन का समर्थन किया है। यदि अकलक "कालश्चेत्येके" सूत्र उद्धृत करते, तो सम्प्रदाय विरोध के साथ साथ उक्त सूत्र से शका की निवृत्ति भी पूर्णतया न होती, इसीलिये उन्होंने दिगम्बरीय सूत्र 'कालश्च' प्रमाणरूप से दिया।

(क्रमशः)

# उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख

[ ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद, जैन, एम० आर० ए० एस० ]



प्रो० के० जी० कुन्दनगार ने उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य में यत्र-तत्र बिखरे हुए शिलालेखों को संग्रह करके प्रकाशित किया है। निस्सन्देह इतिहास के विद्वानों के लिये उनका यह सुंदर कार्य प्रशंसनीय और बहुमूल्य है। उस संग्रह में से हम यहाँ पर कतिपय उन उल्लेखनीय लेखों को हिन्दी अनुवाद में सधन्यवाद उपस्थित करते हैं, जिनका सम्बन्ध जैनधर्म से है। इस संग्रह मे नं० १ का स्तंभ लेख अधूरा ३०" × १४" लम्बा-चौड़ा है। उसका हिन्दी-अनुवाद निम्न-प्रकार है —

( पश्चिम पार्श्व )—

१ श्रीवाग्देवी (सरस्वतीदेवी) का विवरण है।

२-३ उत्तरीय व पूर्वीय क्षेत्रों का वर्णन है।

३-६ मंदर (मेरु) पर्वत भद्रसाल वन से ५०० योजन ऊँचा है और १००० योजन पृथ्वी पर है।

७-८ वहाँ से ५०० योजन मे नन्दनवन है।

८-९ वहाँ से ६२५०० योजन ऊपरी भाग है।

१०-११ वहाँ से ५०० योजन मे देववन है।

११ १२ वहाँ से ३६०० योजन चढ़ा जाता है।

१३ १४ तब वहाँ से ४९४ योजन मे पांडुक वन है।

१५-१६ वहाँ से ४० योजन ऊँचा उसकी शिखर है।

१७-२१ जम्बूद्वीप का नामकरण अज्ञातकालीन जम्बूवृक्ष की अपेक्षा हुआ है। मंदरमेरु के चहुंओर उत्तम भोगभूमि है . ।

२१-२२ जम्बूद्वीप के भरतशला(?) खण्ड में विनीताखण्ड के अन्तर्गत अयोध्या है।

२२-२५ (अयोध्या से) दक्षिण मे कुन्तलदेश है। यह प्रदेश चालुक्य साम्राज्योद्धारक प्रतापी आहवमल्लदेव का साम्राज्य है। उन्हीके राज्य के अन्तिम तीन वर्ष ....... ।

२७-३० .. .....

(उत्तरी पार्श्व) २३ उस देश में ८४ लाख देवताओं के प्रफुल्ल मुखरभाग में।

२८ शारदा देवी का वर्णन है।

८९ १० ३० शारदादेवी का चित्रण है। (अक्षरवृत्त, त्रिपदी, दोहवृत्त, चौपदीवृत्त छंदों का उल्लेख है)।

(दक्षिण पार्श्व) १९ अपनी युवावस्था में ऐश्वर्य, धन और मान के वश हो वह नरेश एक महान् व्यक्ति था। वह आत्मसम्मानी दानवीर, संयमशील, दोषमुक्त, सेवा के योग्य, दयालु सद्गुणों का अधिकारी और सत्यप्रिय था। उस विद्वान पुरुष में गुणों की जाज्वल्यज्योति चमकती थी।

१० १३ गुणस्थानों में धर्मात्माओं के भूषणरूप पाँच अणुव्रतों में, तीन गुणव्रतों में और चार शिक्षाव्रतों में ।

१४ ऐसे व्रत हैं ।

१५ १९ कुसुमकलिकाओं की टोकरी मैत्री इस मार्ग पर जाते, ठहरते और स्थिर रहते विचारशील, क्योंकि परिणामगुणों में ऐसी महानता है।

२०-२३ परिणामगुण धारण करायें वे असत्य को डरायें और वे (मन को) प्राप्त धन में से आधा दान करने में लगायें ।

२३ २७ जब ऐसा सुख इस सांसारिक जीवन में प्रतीक्षा कर रहा था, जैसे कि कमलपत्र पर ओसबिन्दु अथवा फलितो मुकुलित हुए आम्र मञ्जरियों पर तुषार अथवा सरस और हरे भरे बगीचे में ज्येष्ठ की तप्त बयारि

२८ ३० सूब सुदृढ रणक्षेत्र में घायल हुये ।

३१ ।

उपर्युक्त लेख खंडित है। तो भी यह स्पष्ट है कि इसमें आहवमल्लदेव नामक चालुक्यसम्राट् के अंतिम तीन वर्षों के राज्यकाल का वर्णन है। यह आहवमल्ल चालुक्यसम्राट् तैलपदेव हैं, जिन्होंने राष्ट्रकूट सम्राट् कक्क द्वितीय को सन् ९७३ ई० में पराजित करके चालुक्य-साम्राज्य लक्ष्मी को पुनः प्राप्त किया था। जैनकवि रन्न (रत्न) के यह आश्रयदाता थे। उन्होंने कवि रन्न को कविचक्रवर्ती' की उपाधि प्रदान की थी। कविरत्न ने सम्राट् तैलप को निम्न लिखित विरुदावली लिखा है, जिसमें उनका महान् व्यक्तित्व स्पष्ट है —

"समस्तभुवनाश्रयम्, श्रीपृथ्वीवल्लभम्, महाराजाधिराजम् राजपरमेश्वरम्, परमभट्टारकम्, करहाटमयङ्करम्, जादित्यान्द्र-कुलीन भुवन सद्गुण मणि विभूषणम्, सिंधुर कंधराधिरूढ पद्मिपोटोल्लाघनम्, मद्रकविद्रावणम् कोङ्कण भय करम्, उभयचन्द्रस्तम्भ, मार्मलेवरि-गज

केसरि, करीन्द्र-कठीरवमत्रम् वैरि-फणीन्द्र सौपर्णम्, कालिक-राज-गजकेसरि, रणकुंभि-कुंभकंठीरवम् यादवकुलाम्बर-द्युमणि . . . श्रीमन्नूर्मेडितैलपर्मानिमिदाहवमल्लदेवनिम्।
—(गद्ययुद्ध, २ पृ० १५)"

तैलप ने २४ वर्षों तक उल्लेखनीय राज्य किया था। संभवत शिलालेख में इन्हींके व्यक्तित्व का चित्रण है, जिससे स्पष्ट है कि वह अपने अन्तिम जीवन में श्रावक के व्रतों को पालते थे। सांसारिक जीवन की क्षणिकता को जानते थे। धर्म-कर्म पालते हुए भी वह राज्य-संरक्षण के कर्तव्य से विमुख नहीं थे। श्रावकाचार के व्रतनियम दर्शनीय हैं। भावविशुद्धि उस समय भी खास चीज थी, जिसका उल्लेख 'परिणामगुण रूप' में हुआ है। शारदादेवी (जिनवाणी) का चित्रण महाकवि पुष्पदन्त के सरस्वती-चित्रण की याद दिलाता है। लेख नं० १७ (११६६ ई०) में यादवनरेश जैत्रपाल के राज्यकाल में इन्डि नामक प्रदेश में हरि-हर-अरहंत-बुद्ध के मंदिर और ब्राह्मण ऋषि, जैनमुनि एवं बौद्धभिक्षु विचरते लिखे हैं (श्लोक ८)।

ले० नं० २२ (१२०६) एक जैन लेख है, और उसका हिन्दी रूपान्तर निम्नप्रकार है:

१-२ नमः सिद्धेभ्य। 'श्रीमान् जीयात्—' श्लोक है। (?)

२-३ जिन्होंने काम को जीत लिया है और जिनके पदतल नतमस्तक हुए सुरासुरों की मुकुटमणियों से लाल हुए हैं, वह पार्श्वजिन इच्छित सुख प्रदान करें ॥२॥

४-५ यह शासन लेख जो जिनेन्द्र-द्वारा अभिभाषित जिनशासन का बखान करता है, पृथ्वी पर उस समय तक चमकता रहे, जब तक सूर्य, चन्द्र और ज्योतिर्मयी (मेरु) पर्वत रहे ॥३॥ वह (जिनशासन) इस प्रकार है—

५-६ जम्बूद्वीप के मध्य में स्तंभवत् मंदर (मेरु) पर्वत है मंदर (मेरु) के दक्षिण में स्थित प्रदेश सदा भरत नाम से प्रसिद्ध है ॥४॥

७-१० अगणित रत्नसमूह से भरपूर उस भरतक्षेत्र में वेणुग्राम (बेलगाँव) में जो, महान् व सुंदर नगर, राज्य-लक्ष्मी का लीला-केन्द्र (राजधानी) होने के कारण है और जो तीन हज़ार ग्रामों, बड़े ग्रामों एवं नगरों से मंडित कुंडिमंडल के मध्यभाग को शोभित करता है, उसमें नाना राष्ट्रों के लोग और अनेक प्रकार की सामग्री मिलती है।

१०-११ अपने भयंकर शौर्य के लिये प्रसिद्ध राजाओं के समूह से मंडित रट्टवंश इस धरातल पर पृथ्वी के भूषण रूप में प्रसिद्ध था ॥५॥

११-१२ उस समस्त गुणाश्रय रट्टवंश में —

१२-१७ स्वस्ति। अनेक विरुदावली-अलंकृत समस्तभुवनाश्रय, पृथ्वीपति, महाराजाधिराज, महाप्रभु महापवित्र, कंधारपुराधीश्वर, स्वर्ण-गरुड़-ध्वज-मंडित, रट्ट-कुल-कमल-सूर्य, रणभयंकर, नृत्य-संगीत-लय-ताल-केलि-तत्पर, गांधर्व-विद्या-निपुण, शरणागत-वज्र-पंजर।

१८ भुवन विख्यात, चतुर्भुजदेव रूप।

१८-१९ कृष्णराज चहुओर समुद्र रक्षित पृथ्वी की रक्षा अपने अतुल्य शूर वीरता से करते सम्राट् हुए ॥६॥

२० कृष्ण के महान् और विस्तृत साम्राज्य में अनेक राजाओं के मण्डलेश्वर कंधर (Kandhara)।

२१-२३ स्वस्ति। वह क्षत्रियों में श्रेष्ठ हैं। समस्त विरुदों से शोभित प्रतापी महामण्डलेश्वर, लट्टनूरु पुरवराधीश्वर, त्रिवलीशरणगत, रट्टकुलभूषण, माण्डलिकवीरामणी शत्रुभयकरादि।

२३-२४ कार्तवीर्य थे। वह राजाओं में श्रेष्ठ और सुदृढ थे। गरीबों की रक्षा करते थे और दुष्टों का निग्रह करते और रणभूमि में उन्हें सुगमता से निगल जाते थे ॥७॥ उनके पुत्र।

२५-२६ लक्ष्मीदेव थे। वह मानी वीर रट्टकुल में सर्वश्रेष्ठ थे। शत्रुओं के लिये साक्षात् यमराज थे ॥८॥

२६-२७ लक्ष्मीदेव का शासन हरि को मात करता है, क्योंकि वह पृथ्वी की रक्षा करते थे और वामनरूप में भिक्षा लेने के लिए अवतरित हुए ॥९॥

२८-२९ उस पृथ्वीपति की प्रिय हृदयेश्वरी श्रेष्ठ चान्दलदेवी पट्टरानी थी, जो शरणागत के लिये अभय और आश्रयदानरत्न था, जिनकी प्रशंसा सुरागनायें करती थीं, जो विद्वानों के लिये इच्छापूरक चिन्तामणि और अपने वंश की शिखामणि थीं ॥१०॥

३०-३१ जब कि प्रतापलंकेश्वर भयंकर मण्डलेश्वर लक्ष्मीदेव अपनी राजधानी वेणुग्राम से शासन कर रहे थे, तब —

३२-३४ अंतिम तीर्थनाथ सुर-नर-खचर पाद वंदित, सर्वगुणाश्रय केवलज्ञान-लक्ष्मीमंडित, पृथ्वीरत्न, सर्वतोभद्र महावीर ने मोक्ष प्राप्त कर लिया था, तब उनकी परम्परा में यापनीयसंघ उद्भूत हुआ और पृथ्वी पर चमक रहा था ॥११॥

३४-३५ स्वस्ति। उस प्रख्यात यापनीयसंघ के कारेयगण में देवतुल्य यतिगण थे, जिन्होंने अस्ति-तत्व का प्रचार करके गण की वृद्धि की थी ॥१२॥

३५-३६ इस प्रकार तपस्या करके अनेक यति मुक्त हुए। उस अन्वय में।

३६-३७ निर्ग्रन्थ मुनि-रूप में प्रसिद्ध कनकप्रभ जन्मे। उनका कनकप्रभ नाम इस लिये पड़ा था कि निरन्तर विद्वानों को स्वर्णदान दिया करते थे ॥१३॥

३८-४ उनके श्रेष्ठ और प्रिय शिष्य श्रीधरदेव त्रैविद्य चक्रेश्वर थे, जो मीमांसक कमलवन दन्ती हस्ति, चार्वाकवादी-गजकेसरी, वैशेषिक सर्प गरुड, सांख्यभूभृत खण्डन वज्र और बौद्ध धन विलय-झंझावात थे ॥१४॥

४०-४१ उस पवित्रान्वय के कनकप्रभ की प्रशंसा लोकजन करते थे। वह सर्व-विद्याविद्, महान् पुण्यशाली और श्रीधरमुनीन्द्र के शिष्य थे ॥१५॥

४२-४३ धवल-प्रशंसाश्रय कनकप्रभ पंडितदेव की क्षेम लोगों के लिये आनन्द की वस्तु है। प्रसिद्ध कुंडीदेश उनके चरणों में शरणागत है। यह मुनि विद्वज्जन के लिये जंगम इच्छापूरक चिन्तामणि रत्न हैं ॥१६॥

४४-४५ निष्पाप कनकप्रभ पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। वह जिनवचनरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्र, जिनाम्बुधि-कमल-सरोज और जिनपूजा करने में इन्द्र-तुल्य थे ।१७।

४५-४६ उन कनकप्रभ के चरणामृत चचरीक भ्रमर—

४६-४८ अनुपम होट्टिगौड के पुत्र धनसम्पन्न अम्मगौड पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। उनकी पत्नी व्यालजिगौड़ि के दान-धर्म कार्यों की बराबरी कोई भी रानी नहीं कर सकती थी। इस दम्पत्ति का पुत्र होन्नन था ॥१८॥

४८-५२ जब मुरियर अम्म-गौड सानन्द अपने पुत्र-पौत्र और पत्नी सहित रह रहे थे, और सत्तर गांवों के मडल मे आठ गांवों वाले चिनचुनिके के मूलस्वामी थे, तब उन्होंने योग-वस्त्र धारण करके पार्श्वजिन का मदिर सर्व कर्मों के क्षय के लिये बनवाया। उस मदिर में मानस्तम्भ, मकरतोरण आदि सब ही बने हुए थे।

५३-६० शक संवत् ११३० विभव संवत्सर फाल्गुण कृष्ण तृतीया सोमवार को प्रतापी महामंडलेश्वर लक्ष्मीदेव की आज्ञानुसार महाप्रभु मूलिग-मुरियर-अम्मगौड ने यापनीय सघ मैलापान्वय कारेयगण के आचार्य कनकप्रभमंडितदेव के चरणकमल भक्तिपूर्वक जल से धोकर ७०० कम्बी (?) भूमि . एक बाग आदि आहार, भैषज्य, शास्त्रदान और जिनमदिर की मरम्मत के लिये दान दी।

६०-६१ सगर आदि अनेक राजाओं ने भूमिदान दिये है। जिसकी भूमि है उसी को पुण्य मिलता है ।१९।

६१-६२ विष कदाचित् विष न भी हो, परन्तु देवद्रव्य विष है। विष एक व्यक्ति को मारता है, परंतु देवद्रव्य पुत्र-पौत्रादि के नाश का कारण होता है ।।२०।।

६२-६५ शक सं० ११७९ पिंगल संवत्सर चैत्र कृष्ण ७ बृहस्पतिवार को टैक्सों के नायक प्रतापी मत गौड ने कल्लरस और महादंडनायक चौडसेट्टि की आज्ञानुसार पंचदर्शन विद्यालय चिनचुनिके के लिये दान दिया।

६५-६६ तीन .. . करमुक्त दान है।

६७ जो कोई स्वदत्त या परदत्त दान को लेगा वह साठ हजार वर्षों तक मल में कृमि होगा। ( सशेष )

# समीक्षा और प्राप्ति-स्वीकार

**पञ्चमकर्मग्रन्थ**—हिन्दी भाषानुवाद सहित, मूल लेखक—श्री देवेन्द्रसूरि, अनुवादक एव सम्पादक—न्यायतीर्थ प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद जैन विद्यालय, बनारस, प्रकाशक—श्री जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, रोशन मुहल्ला आगरा, पृष्ठ सख्या सब मिलाकर २८+५७+३७०=४५५, वीर सवत् २४६८, मूल्य ३) रु०, मुद्रण आदि चित्ताकर्षक।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्व० श्रीमती पानबाईजी का सक्षिप्त परिचय दिया गया है जो मरते समय इस पञ्चमकर्मग्रन्थ के प्रकाशन के लिये ५०८) रु० दे गई थीं। इसके बाद प्रकाशक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य के आगे श्री प० सुखलालजी सघवी, प्रधानाध्यापक—जैन दर्शन हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस के द्वारा लिखित १५ पृष्ठ का 'पूर्वकथन' है। पण्डितजी ने विद्वत्तापूर्ण अपने इस 'पूर्वकथन' में कर्मतत्त्वविचारक सभी परम्पराओं की शृङ्खला पर ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत सुन्दर ढग से प्रकाश डाला है। इस गम्भीर 'पूर्वकथन' से पण्डितजी के गहरे अध्ययन का पता आसानी से लग जाता है। आप हैं भी एक बहुदर्शी उल्लेखनीय विद्वान्। इसके अनन्तर सम्पादक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य के बाद उन्हीं की ४६ पृष्ठों की एक पाण्डित्यपूर्ण लम्बी प्रस्तावना है। प० कैलाशचन्द्रजी ने अपनी इस सुन्दर प्रस्तावना में कर्मसिद्धान्त, कर्मविषयक साहित्य, नवीन कर्म [illegible] थ एव नवीन कर्मग्रन्थों के रचयिता इन विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसमें पण्डितजी के दर्शनान्तरीय ग्रन्थों के परिशीलन का विशद परिचय मिल जाता है। वास्तव में प्रस्तावना बहुत सुन्दर लिखी गई है। इस प्रस्तावना के बाद पञ्चमकर्मग्रन्थ का विषयानुक्रम तथा इस विषयानुक्रम के उपरान्त सानुवाद पञ्चमकर्मग्रन्थ है। ग्रन्थ का अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है। प० कैलाशचन्द्रजी ने इसमें पर्याप्त परिश्रम किया है। प० सुखलालजी के शब्दों में 'मेरे प्रथम के चार अनुवादों में दिगम्बरीय साहित्य की तुलना थी पर वह उतनी न थी जितनी की इस अनुवाद में है। कारण स्पष्ट है। पण्डितजी को सारा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र स्मरण है। इस तरह प्रस्तुत अनुवाद में श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय कर्मशास्त्र जो असल में एक ही स्रोत के दो प्रवाहमात्र हैं, जो गगा-यमुना की तरह मिल गये हैं। उन्होंने जो प्रस्तावना लिखी है वह भी गहरे अध्ययन के बाद ही लिखी है। उनकी भाषा तो मानो विशद प्रवाह है। इस अनुवाद के द्वारा श्वेताम्बरीय अभ्यासियों को दिगम्बर परम्परा का तत्त्व जानने की बहुत कुछ सामग्री

मिलेगी। और जो दिगम्बरीय अभ्यासी इस अनुवाद को पढ़ेंगे उन्हे श्वेताम्बरीय वाङ्मय का सौरभ भी अनुभूत होगा।' ग्रन्थ के अन्त में शुद्धिपत्र को लेकर ७ परिशिष्ट लगे हुए हैं, जो कि बहुत उपयोगी हैं। सारांशतया प्रकाशन सर्वाङ्ग सुन्दर हुआ है। इसके लिये प्रकाशक महोदय भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

**महावीरवाणी**—प्रस्तावना-लेखक—डॉ० भगवानदास, सम्पादक—बेचरदास दोशी; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; पृष्ठ सं० सब मिलाकर २८+१८८=२१६; मूल्य अजिल्द एक रुपया, सजिल्द डेढ़ रुपया, ई० सन् १९४२; मुद्रण आदि सुन्दर।

इसमे अहिंसादि २५ सूत्रों या अध्यायों मे ३४५ प्राकृत गाथाओं का सानुवाद संग्रह है। इन गाथाओं का संग्रह श्वेताम्बर सूत्र साहित्य से किया गया है। ग्रन्थ के अन्त मे पारिभाषिक शब्दों का सरल हिन्दी भाषा मे अर्थ भी दिया गया है। ऐसे ग्रन्थ के संकलन की बड़ी आवश्यकता थी। इसके लिये विद्वान् सम्पादक के साथ साथ संकलनकर्त्ता, हिन्दी भाषानुवादक, अनुवाद के संशोधक एवं प्रकाशक सभी धन्यवाद के पात्र हैं। हां, महावीरवाणी मे यतिधर्म से सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ अधिक हैं एवं गृहस्थोपयोगी कम। गृहस्थोपयोगी उपदेशों का संकलन भी अधिक मात्रा मे होना चाहिये था। दूसरी बात है कि अगर इस संकलन मे दिगम्बरीय साहित्य से भी सहायता ली जाती, तो संग्रह और उपयोगी होता। गाथाओं का अनुवाद सुन्दर हुआ है। सारांशतया ग्रन्थ उपयोगी एवं सुन्दर है।

—के० भुजवली शास्त्री

**बनारसी-नाममाला**—रचयिता—पं० बनारसी दासजी, सम्पादक—जुगलकिशोरजी मुख्तार; अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर', प्रकाशक—वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, पृष्ठ संख्या १०८; पाकेट साइज ६४ पेजी; मूल्य ।), छपाई-सफाई सुन्दर।

यह नाममाला मध्यकाल के संस्कृत कोशों के अनुकरण पर १७वीं शताब्दी में पद्यबद्ध रची गयी है। इसकी प्रस्तावना मे प० परमानन्द शास्त्री ने लिखा है—"इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६७० मे बादशाह जहांगीर के राज्यकाल मे, आश्विन मास के शुक्लपक्ष मे विजयादशमी को, सोमवार के दिन 'भानु' गुरु के प्रसाद से पूर्णता को प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ के बनवाने का श्रेय आपके परम मित्र नरोत्तम दासजी को है, जिनके अनुरोध एवं प्रेरणा से यह बनाया गया है, जैसा कि ग्रन्थ के १७०, १७१, १७२ और १७५वें दोहों से स्पष्ट है।" आपने यह भी बतलाया है कि इस रचना का प्रधान आधार धनंजय-कृत 'नाममाला' है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'बनारसी-विलास' मे 'धनञ्जय नाममाला' का पद्यानुवाद

बताया है। मैं भी उपयुक्त ग्रन्थ का ही आधारत्व स्वीकार करूँगा, क्योंकि परायण करने से मुझे कई मौलिक हिन्दी शब्द मिले हैं और आरम्भ में अमरकोश का ढंग भी देखने में आता है। यह ठीक है कि संस्कृत कोशों का पूरा-पूरा अनुकरण किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोशकार प्रतिभाशाली थे, उनके पास शब्दों का भाण्डार था, फिर भी—तात्कालिक पद्धति के अनुसार पद्यबद्ध ही सही—यदि स्वतन्त्रता से उन्होंने काम लिया होता, तो इतने अप्रचलित अर्थात् भाषाकाव्य में अप्रयुक्त शब्द नहीं आने पाते और उस काल के व्यावहारिक कुछ देशज तथा विदेशी शब्द भी इस नाममाला में स्थान पा जाते। इस ग्रन्थ में त्रिदश=देवता, सपा=बिजली भानि=नक्षत्र और लेलिहान=सर्प इत्यादि के समान चतुर्थांश शब्द भरे पड़े हैं। पाठक 'भानि' शब्द पर विचार करें—'भ' नक्षत्र का पर्यायवाची है। बहुवचन में 'भानि' रूप हुआ। ग्रन्थकार ने जल्दी में ज्यों का त्यों रख दिया है। शुद्धि पत्र में सम्पादक ने 'भ' बनाकर ग्रन्थकार को स्यात् निर्दोष बनाना चाहा है पर फिर भी वह संस्कृत का सविभक्तिक शब्द ही रह जाता है। अनुस्वार रहित हो 'भ' किसी प्रकार हिन्दी में प्रयुक्त हो सकता था, पर उसमें छन्दोभङ्ग हो जाता है। तात्पर्य यह कि कितने ही ऐसे शब्द हैं, जो कभी व्यवहृत नहीं होते। तथापि मैं कहूँगा कि यह नाममाला अपने समय में बड़ी अच्छी और नवीन होगी, प्राचीन हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए आज भी यह उपयोगी है।

ग्रन्थ के अन्त में संपादक ने अकारादिक्रम से जो शब्दावली दी है और कोष्ठक में शुद्ध रूप देने का जो स्तुत्य कार्य किया है, उससे यह पुस्तक इतर शब्दकोशों की तरह पूर्ण आधुनिक हो गयी है। यह दूसरी बात है कि इसका रूप छोटा है। आखिर सम्पादक को तो ग्रन्थ में पठित शब्दों की ही आवली बतानी थी।

सम्पादन सुन्दर हुआ है। हाँ, छाप की अशुद्धियाँ तो कुछ रह ही जाती हैं। कुछ अशुद्धियाँ शुद्धि पत्र में नहीं आ सकी हैं। २९वें दोहे के 'कख पदमकर' पद का शुद्ध रूप 'कच्छप मकर' तो मैंने शुद्धिपत्र में पाया, किन्तु उसी पंक्ति का 'नवनिधि' अभी अशुद्ध पड़ा पाया।

सम्पादक यदि अपने 'शब्दानुक्रमकोश' में प्रत्येक शब्द के आगे एक एक व्यावहारिक पर्यायवाची शब्द इण्डियन ब्रैकेट के छोटे अक्षरों में दे देते, तो स्यात् यह नाममाला अधिक उपयुक्त हो जाती। मिला जुलाकर सपादन बड़ा बढ़िया हुआ है। संस्कृत हिन्दी के प्रेमियों को एक एक प्रति रखनी चाहिये।

इसके मूल्य में कमी अधिक कर दी जाय, जिससे धर्मजिज्ञासु जनता इसे आसानी से खरीद सके। यों तो पुस्तक के अन्त में अशुद्धियों का एक शुद्धिपत्र भी लगा दिया है, पर इसके अतिरिक्त भी कई अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। १९२७ ई० की छपी हुई इस पुस्तक के आज १५ वर्ष गुजर गये। हिन्दी की लेखनशैली उत्तरोत्तर निखरती जा रही है। ऐसी दशा में इस पुस्तक की हिन्दी कुछ पुरातनता लिये हुई सी नजर आती है।

जैनधर्म, जैनसाहित्य भारत के लिये एक गौरव की वस्तु हैं। इसकी अवहेलना करना भारत की अमूल्य निधि खोने के सामान है। जैनधर्म को बौद्धधर्म का अंग मानने का अपराध अजैनों की अपेक्षा जैनों के माथे डालना उचित प्रतीत होगा। क्योंकि अजैनों के समक्ष उन दिनों बौद्धसाहित्य प्रकाशरूप में आया। उन बेचारों ने जैनधर्म की दो चार पुस्तकें छपी देख एवं दोनों धर्मों को अहिंसा-मूलक समझ कर बौद्ध धर्म का अंग जैनधर्म को मान लिया, तो इसमें उनका दोष ही क्या है? अब भी तो अनेक जैनग्रन्थ-रत्न दीमकों की खुराक बन रहे हैं—उनका मुद्रित होना अखर्व असम्यक्तित्व मसला हो रहा है। अतः आशा है कि जैन-विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे। बल्कि उक्त पुस्तक के लेखक ने भी इसका दिग्दर्शन कराया है।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

**जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ**—लेखक—ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापडिया, मालिक, दि० जैन पुस्तकालय, सूरत, मूल्य—बारह आने, पृ० १६७, वीर सं० २४६८।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी हैं। आपने इसमें दैव और पुरुषार्थ का स्वरूप आधुनिक ढंग से समझाया है। पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों मतों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से दैव की विवेचना की है। और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का स्वरूप बतलाते हुए इनका सेवन कैसे करना चाहिए आदि बातों पर विशेष रूप से जोर दिया है। वर्णनशैली आधुनिक ढंग की और रोचक है। परन्तु भाषा परिमार्जित नहीं है। फिर भी इसके अध्ययन से जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त का ज्ञान अच्छी तरह से हो सकता है। इसमें गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संबंधी बन्ध, उदय, सत्व आदि का वर्णन बड़ी सरल रीति से किया गया है। आगे गुणस्थान का स्वरूप और गृहस्थ-धर्म का वर्णन संक्षेप में बड़ी उत्तमता से किया है। ब्रह्मचारीजी की सजीव लेखनी से लिखी गयी यह पुस्तक स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बड़े काम की है। इसकी छपाई और सफाई साधारण है।

प्रूफ-सशोधन म कहीं कहीं त्रुटियाँ रह गई हैं। अत आगामी सस्करण म इन सब बातों पर ध्यान देना चाहिए।

पुस्तक सरल और उपयोगी है। प्रत्येक गृहस्थ को मगाकर पढनी चाहिए।

**तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय**—समन्वयकर्ता—साहित्यरत्न जैनधर्मदिवाकर, उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी महाराज, प्रकाशिका—श्रीमती रत्नदेवी जैन, लुधियाना; भाषा संस्कृत और प्राकृत, पृष्ठ ४+१०+२+३+४+१६+८६४+२१, सन् १९४१।

उपाध्यायजी का यह प्रयत्न प्रशसनीय है। आपने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ जो आगमसूत्रों का समन्वय किया है वह तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करनेवालों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। वास्तव म आज ऐसी सामग्री की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन समाज म तत्त्वार्थसूत्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इस एक ही ग्रन्थ के अध्ययन से जैनधर्म का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। इसीलिए तत्त्वज्ञानसबधी सस्कृत रचना में सबसे ऊँचा स्थान इसी ग्रन्थ को प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ म तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों की समानता जिन जिन आगम सूत्रों म पाई जाती है, उन सभी आगमसूत्रों का आवश्यक अश उन-उन सूत्रों के नीचे उद्धृत कर दिया गया है। आगमसूत्रों की तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ कहा-कहा पर अक्षरश समानता पायी जाती है और कहीं कहा पर अर्थश। जिन सूत्रों के समन्वय म कमी प्रतीत होती है, उन सूत्रों के आगम पाठ परिशिष्ट न० १ व २ में दिये गये हैं। आशा है, आगामी सस्करण में परिशिष्ट के आगमपाठों को सूत्रों के ही साथ में दे दिया जायगा। इससे पाठकों को अधिक लाभ होगा। आपने जो परिशिष्ट न० ३ दिया है वह भी बडा महत्त्वपूर्ण है। आपने इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रों का पाठभेद भी दिखलाया है। इसम अन्वेषक विद्वानों को तो लाभ होगा ही, साथ ही साथ साधारण पाठकों को भी दोनों सम्प्रदायों की मान्यता का भेद ज्ञात हो जायगा। अगर उपाध्यायजी प्राचीन दि० जैन ग्रन्थों के साथ भी इसका समन्वय दिखलाते, तो यह चीज और उत्तम बन जाती।

यह गुटका प्रत्येक स्वाध्यायप्रेमी को अपने पास रखना चाहिये। इसका यह सस्करण सवाग सुन्दर है। यह गुटका जैसा बहिरग में चित्ताकर्षक है वैसा ही अतरग में भी।

—नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष तीर्थ

# प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

६ प्राकृतव्याकरण । यह ग्रन्थ हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यशस्तिलकटीका में एक जगह उन्होंने अपने लिए यह विशेषण भी दिया है—"प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्ररचनाचञ्चुना" इससे और षट्पाहुडटीका में जो जगह जगह प्राकृतव्याकरण के सूत्र दिये हैं, उनसे भी मालूम होता है कि इनका बनाया हुआ कोई प्राकृतव्याकरण अवश्य है। इस ग्रन्थ का पता लगाने की बहुत आवश्यकता है।

इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कन्धावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्ध की टीका, बृहत्कथाकोश आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुए कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रम की १६ वीं शताब्दि में हुए हैं। क्योंकि—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीका की प्रति का उल्लेख किया गया है, वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागर के पढने के लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख श्रुतसागर ने स्वयं अपनी टीकाओं में कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोश के कर्त्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुए हैं और वे श्रुतसागर के गुरुभ्राता मल्लिषेण के शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्द जी के सं० १९५४ के बनाए हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में श्रुतसागर का समय वि० संवत् १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीका में जगह जगह लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बरसम्प्रदाय में से यह मूर्तिपूजा का विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागर का समय इसकी स्थापना से अधिक नहीं तो चालीस पचास वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिये।

---

(५३) ग्रन्थ नं० ७६/क

# पार्श्वपुराण

कर्त्ता—सकलकीर्त्ति

विषय—पुराण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३ इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या ९६

प्रारम्भिक भाग—

नमः श्रीपार्श्वनाथाय विश्वविघ्नौघनाशिने ।
त्रिजगत्स्वामिने मूर्ध्ना ह्यनंतमहिमात्मने ॥१॥
जित्वा महोपसर्गान्यो ज्योतिर्देवकृतान्भुवि ।
स्ववीर्यं केवलं व्यक्तं चक्रे वेंडे तमद्भुतम् ॥२॥
यन्नामस्मृतिमात्रेण विघ्नाः कार्यविनाशिनः ।
विलीयन्तेऽखिला नृणां सुमंत्रेण विषाणि वा ॥३॥
अरयो दुर्निवारा हि त्यक्त्वा वैरं व्रजन्त्यहो ।
बन्धुभावं सतां नूनं यन्नामजपनेन हि ॥४॥
क्षुद्रा देवा दुराचारा पीडयन्ति न जातुचित् ।
व्याहिसिंहादयोऽहोयच्छरणान्वितचेतसाम् ॥५॥
असाध्या दुष्करा रोगाः सर्वे यान्ति क्षणात्क्षयम् ।
यन्नामभेषजेनाऽपि तमांसि भानुना यथा ॥६॥
यद्ध्यानेन प्रणश्यन्त्यत्रानन्ता कर्मराशयः ।
यद्यतो परविघ्नादिनाशे को विस्मयः सताम् ॥७॥
इत्यादि महिमोपेतं जगन्नाथं जगद्गुरुम् ।
तं श्रीपार्श्वं स्तुवे वंदे प्रारब्धविघ्नशान्तये ॥८॥
दिव्यवाक्किरणैरादौ रागद्वेषं तमक्षयम् ।
उच्छिद्य संप्रकाशयोच्चैर्मोक्षमार्गं सतां चयम् ॥९॥

× × ×

*मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ४८, पंक्ति १)—*

नम श्रीमुक्तिकान्ताय काममल्लविनाशिने।
श्रीपार्श्वस्वामिने सिद्धयै जगद्भर्त्रे चिदात्मने ॥१॥
त्रिभि साद्धं नमोऽप्यासीन्निमल जिनजन्मत।
अम्लानकुसुमैश्चक्रु पुष्पवृष्टिं सुरद्रुमा ॥२॥
अनाहता महाध्वाना वधतुर्दिविजानका।
ययौ तदा मरुन्मन्द सुगधि शिशिर स्वयम् ॥३॥
अभूद्घटारवोऽतीव -गम्भीरो निर्जरा प्रति।
यद्तीव जिनेन्द्रस्य जन्म नाकालये स्वयम् ॥४॥
आसनानि सुरेशानामकस्माच्चकम्पिरे।
देवानुच्चासनेभ्योऽध पातयन्तीव भक्तये ॥५॥
शिरांसि प्रचल मौलिमणीनि प्रणतिं दधु।
कुर्वन्तीव नमस्कारं भक्त्या तीर्थेशपादयो ॥६॥
दृष्ट्वेत्यादिमहाश्चर्यं ज्ञात्वा तीर्थेशजन्म ते।
कल्पेशाऽवधिज्ञानाज्जन्मज्ञाने मतिं दधु ॥७॥

× × ×

*अं तम भाग—*

न कीर्तिपूजाविपुलाभलोभात्र वा कवित्वाद्यभिमानतोऽयम्।
ग्रन्थ कृत किन्तु पराथबुद्धया स्वस्यापरेषाञ्च हिताय नूनम् ॥९२॥
अक्षरस्वरसुसंधिसुमात्रादिच्युत यदपि किञ्चिदपीह।
ज्ञानहीनचलचित्तप्रमादात्तत्क्षमस्व जिनवाणि समस्तम् ॥९३॥
भवगमनलधिश्रीपार्श्वनाथस्य दिव्य
सकलविशदकीर्त प्रादुरासीन्मुनीन्द्रात्।
यदिह परचरित्र वद्धि दक्षै भवतु (?) [दक्षा स्मरन्तु]
यतिसुजन(सु)सेव्य जैनधर्मोऽस्ति यावत् ॥९४॥
सर्वे तीर्थंकरा महातिशयिन सिद्धाष्टकर्मातिगा
दिव्याष्टश्रुतसद्गुणाश्च सहिता श्रीसाधवश्च त्रिधा।
शुक्लध्यानसुयोगसाधनपरा विद्याम्बुधे पारगा
ये ते विश्वगुणाकराश्च शिवद कुर्वन्तु मे मङ्गलम् ॥९५॥

विश्वार्च्या विश्ववन्द्याः सकलवृषधरा मुक्तिकान्ताप्रसक्ताः
हन्तारः कर्मशत्रून्सुगुणजलधयो जाप्यरूपेण नित्यम् ।
आराध्या भव्यलोकैरगतिसुखकरास्तीर्थनाथाश्च सिद्धाः
ये तेऽनन्ता मुनीन्द्राः शुभसुखसदनं मङ्गलं वः प्रदद्युः ॥९६॥
जिनवररुचिमूलो ज्ञानसत्पीठबन्धः
सकलचरणशाखो दानपात्रप्रसूनः ।
शिवसुखफलनम्रो धर्मकल्पद्रुमो वः
सुशिव(सु)फलकामैः सेव्यमेवेष्टसिद्ध्यै ॥९७॥
धर्मो विश्वसमीहितार्थजनको धर्मं श्रयधुर्धार्मिकाः ।
धर्मेणाशु शिवं भजन्ति मुनयो धर्माय मुक्त्यै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरोऽखिलार्थसुखदा धर्मस्य मूलं सुदृग्
धर्मे चित्तमहं दधेऽन्तकमुखाद्धे धर्म रक्षाशु माम् ॥९८॥
सर्वे श्रीजिनपुङ्गवाश्च विमलाः सिद्धा अमूर्त्ता विदः
विश्वार्च्या गुरवो जिनेन्द्रमुखजाः सिद्धान्तधर्मादयः ।
कर्त्तारो जिनशासनस्य सहिताः संवन्दिता संश्रुताः
ये ते मेऽत्र दिशन्तु मुक्तिजनके शुद्धिञ्च रत्नत्रये ॥९९॥
पञ्चादशाधिकान्येवाष्टविंशतिशतान्यपि ।
श्लोकसंख्याऽस्य विज्ञेया सर्वग्रन्थस्य लेखकैः ॥१००॥

इति श्रीपार्श्वनाथचरित्रे भट्टारकश्रीसकलकीर्त्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथमोक्षगमनो नाम त्रयोविंशतितमः सर्ग समाप्तः ।

ज्ञानभूषण भट्टारक विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। ज्ञानभूषण भुवनकीर्ति के पट्ट पर, भुवनकीर्ति सकलकीर्ति के पट्ट पर और सकलकीर्ति पद्मनन्दी के पट्ट पर बैठे थे। १६ वीं शताब्दी के बने एवं लिखे हुए बहुत से ग्रन्थों में इस पट्टावली का उल्लेख पाया जाता है। इससे सहज ही में पद्मनन्दी के पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले तथा भुवनकीर्ति के गुरु सकलकीर्ति भट्टारक का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। बल्कि डॉ० विन्टरनिट्ज़ का कहना है कि यह सकलकीर्ति लगभग ई० सन् १४६४ में स्वर्गासीन हुए थे।*

'ज्ञानार्णव' की प्रशस्ति में इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक के संबंध में लिखा है कि इन्होंने

* See 'A History of Indian Literature,' Page 592.

अपनी लीलामात्र से शास्त्रसमुद्र को भले प्रकार बढ़ाया है।* 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' में सकलभूषण ने इन्हें 'पुराणमुख्योत्तमशास्त्रकारी' विशेषण के साथ स्मरण किया है। जिनदास ब्रह्मचारी ने अपने 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' में इनका 'महाकवित्वादि कलाप्रवीण' ऐसा विशेषण दिया है। 'पाण्डवपुराण' में शुभचन्द्र भट्टारक ने इनकी प्रशंसा में यह वाक्य कहा है—'कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकला पवित्रा।' इसी प्रकार और भी बहुत से विद्वानों ने इनके महान् ग्रन्थकार होने का उल्लेख किया है। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि जैन-समाज में सकलकीर्ति के नाम से जो बहुत से ग्रन्थ प्रचलित हैं और जिनपर उनके बनने का संवत् आदि नहीं दिया है उनका अधिकांश भाग इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक का बनाया हुआ है। १६ वीं शताब्दी में सकलकीर्ति भट्टारक नाम के दूसरे भी एक विद्वान् हुए हैं। परन्तु वे इतने अधिक प्रसिद्ध नहीं थे।†

कामराजकृत 'जयपुराण' की प्रशस्ति में सकलकीर्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य दिये हैं —

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत्।
स सकलकीर्तियोगीन्द्रो ज्ञानी भट्टारकेश्वरः ॥२॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुजरे वागरादिके।
निर्ग्रन्थेन कवित्वादिगुणानेकाहता पुरा ॥३॥
तस्माद्भुवनकीर्तिः श्रीज्ञानभूषणयोगिराट्।
विजयकीर्तयोऽभूवन् भट्टारकपदेशिनः ॥४॥

इनसे मालूम होता है कि इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक ने, जिनके पट्ट पर क्रमशः भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण बैठे थे, गुजरात और वागड आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार किया है।‡ 'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थतालिका में भट्टारक सकलकीर्ति के निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम उपलब्ध होते हैं—

सिद्धान्तसार, तत्त्वार्थसारदीपक, सारचतुर्विंशतिका, धर्मप्रश्नोत्तर, मूलाचारप्रदीपक, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, यत्याचार, सद्भाषितावली, आदिपुराण, उत्तरपुराण, धर्मनाथपुराण, शान्तिनाथपुराण, मल्लिनाथपुराण, पार्श्वनाथपुराण, वर्धमानपुराण, सिद्धान्तमुक्तावली, कर्मविपाक, देवसेनकृत तत्त्वार्थसारटीका, धन्यकुमारचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपालचरित्र, गजसुकुमालचरित्र सुदर्शनचरित्र, यशोधरचरित्र, अष्टाह्निकासर्वतोभद्र, उपदेशरत्नमाला, सुकुमालचरित्र।

इनमें से प्रश्नोत्तरश्रावकाचार आदि कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

* भट्टारकपदाधीशः सकलाद्यन्तकीर्तिभाक्। येन शास्त्राम्बुधिः सम्यग् वर्धितो निजलीलया ॥१४॥
† देखें—'जैनहितैषी' भाग ११, अंक १२ ‡ देखें—'जैनहितैषी' भाग १२, पृष्ठ ६०-६१

(५४) ग्रन्थ नं० ७८/क

# कातंत्रविस्तर

कर्त्ता—वर्द्धमान

विषय—व्याकरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२। इन्च चौड़ाई ७ इन्च पत्रसंख्या २५०

प्रारम्भिक भाग—

जिनेश्वरं नमस्कृत्य गौतमं तदनन्तरम्।
सुगमः क्रियतेऽस्माभिरयं कातन्त्रविस्तरः॥
अभियोगपराः पूर्वं भाषायां यद्बभाषिरे।
प्रायेण तदिहास्माभिः परित्यक्तं न किञ्चन॥

सिद्धो वर्णसमाम्नायः। सकललोकप्रसिद्धः प्रसिद्धसंज्ञासहित इह शास्त्रे वर्णसमाम्नायो वेदितव्यः। वर्णाः अकारादयः। तेषां समाम्नायः पाठक्रमः। तत्र चतुर्दशादौ स्वराः। तत्र सिद्धवर्णसमाम्नाये आदौ चतुर्दश वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ। लृवर्णस्य स्वरसंज्ञया किं प्रयोजनं।[1] योऽपि लृकारं पठति लृच्छादय इत्यादि। स्वरप्रदेशाः। स्वरोऽवर्णवर्जो नामि इत्येवमादयः। दश समानाः। तस्मिन् वर्णसमाम्नायविषये आदौ दश वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ। लृवर्णस्य समानसंज्ञया किं प्रयोजनं। गम इत्याख्यादजीगमदित्यादौ सन्वद्भावो न भवति। समानप्रदेशाः। समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्चलोपम् इत्येवमादयः। तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ। तेषामेव दशानां समानानां मध्ये यौ यौ द्वौ द्वौ वर्णौ तावन्योन्यस्य सवर्णसंज्ञौ भवतः। अआ इई उऊ ऋॠ ऌॡ। द्वयोर्ह्रस्वयोर्दीर्घयोश्चान्वर्थबलाद्व्यतिक्रमे च तेषां ग्रहणस्य क्रमविवक्षार्थत्वात्सवर्णसंज्ञा सिद्धेति। लृवर्णस्य सवर्णसंज्ञया किं प्रयोजनं। शक्लृकार इति लत्वं न भवति। सवर्णप्रदेशाः। समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम् इत्यादयः। ऋकारलृकारौ च। अन्योन्यस्य सवर्णसंज्ञौ भवतः।

× × × ×

1—'विरामे वा' अनेन सूत्रेण पदान्तो मकारोऽनुस्वारमापद्यते।

मध्य भाग—(पूर्व पृष्ठ १२१, पंक्ति १०)

नाम्नां समासो युक्तार्थः । नाम्नो च नामानि च (?) नाम्नां समुदायो युक्तार्थं समास संज्ञो भवति। यदि वा युक्तश्चासावर्थश्चेति शब्दोऽपि तथायाभिधानाद् कार्थ । संज्ञेति युक्तार्थस्तु नरसिंहवदखण्ड तदभिधायित्वाक्यवद्भिन्न । समासवाशि सिद्ध । तस्यालोप्या दिभिर्विभक्तिलोपविधानादर्थाद्वाक्यमेव वा समासोभवति । नीलोत्पल । पञ्चगु । कष्टश्रित । चित्रगु । देवदत्तयज्ञदत्तौ । उपकुंभ । स पुन समास क्वचिन्नित्य । कृष्णसर्प । लोहित- शालि । ब्राह्मणार्थापूपा । ससपय । क्वचिद्विकल्प । राज्ञ पुरुष । राजपुरुष । क्वचिन्न भवति । दीर्घश्चारायणा । रामो जामदग्न्य । व्यास पारासय । अर्जुन कार्तवीर्य । नाम्नामिति किं । कार्याणसमासान्तासमीपयोरिति (?)सन्यविकल्पो न स्यात् । युक्तार्थं इति किं । पश्य कष्ट श्रितश्चैत्रो राजकुल । औदस्य [ऋद्धस्य] विशिष्टस्यापत्यमित्यत्रार्थे विशिष्टापत्य मिति न स्यात् ।

× × × ×

अन्तिम भाग —

स्वार्थे अण् । तदन्ताद्विप्रत्यय । स्वागतादीनां वृद्धिप्रतिषेधो न भवत । शोभनमागत तदाह स्वागतिक । सुष्ठु अध्वर स्वध्वर । तेन चरति स्वाध्वरिक । शोभनानि तान्यगानि यस्य स्वांगस्तस्यापत्य स्वांगिक । एव व्यांगि । व्याडिरिति केचित् । व्याडस्यापत्य व्याडि । विगतोऽवहारो विशेषेण वावहार । तेन चरति व्यावहारिक । व्यायामिक । स्वागत । स्वध्वर । स्वगा । व्यगा । व्याड । व्यवहार । व्यायाम । श्वादेरिति श्वनशब्दस्यैकारादौ तद्धिते वृद्धिरागमो न भवति । श्वभस्तस्यापत्य श्वाभस्त्रि । श्वाशीर्षि । शुनां गणस्थेन चरति श्वागणिक । श्वायूथिक । आदिग्रहणात्कवलस्य निषेध । श्वभिश्चरति शौनिक । इकारादाविति किं । शौवादंष्ट्रो मणि । इणश्चादे । इण्प्रत्ययान्तस्य सर्वे तद्धिते वृद्धिरागमो न भवति । श्वाभस्त्रेरिद श्वाभस्त्रक | श्वाकर्णेरिद श्वाकर्णक । अणि लुप्तेऽपि तत्कृत प्रतिषेधो भवत्येवेति । अनर्थकमेतदिति चान्द्रा । पदस्यानीति वा । श्वशब्दादे पदशब्दस्यानिकारादौ वा वृद्धिर्न भवति । शुन पदं श्वपद । तस्येदमित्यण् । शौनपद । श्वपद । अनिनीति किं । श्वपदेन चरति श्वापदिक । श्वन्शब्दस्य द्वारादिपाठात् तत्र तदादिविधिज्ञापितत्वान्नित्य प्राप्ते विकल्पो विधीयते । न्यकोर्श्च । सर्वे तद्धिते वृद्धिरागमो वा भवति । न्यकोरिद न्यांकव ।

इति श्रीमत्कमलदेवोपाध्यायश्रीवर्द्धमानविरचिते कातन्त्रविस्तरे तद्धिते दशमप्रकरणं समाप्तम् ।

इस 'कातन्त्रविस्तर' के मूल सूत्र के रचयिता शर्ववर्मा हैं। वे मूल सूत्र- कातन्त्र, कौमार एवं कलाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। कातन्त्र में संस्कृत व्याकरण का विषय ऐसे सुन्दर ढंग से गुंफित किया गया है जो अधिक विस्तृत न अधिक संक्षिप्त ही कहा जा सकता है। साथ ही साथ सरल भी है। हाँ, इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। स्त्रीप्रत्यय, तद्धित आदि कुछ प्रत्ययों की सुष्ठिमेयता एवं सार्वधातु-असार्वधातु का पार्थक्य आदि ही ये त्रुटियाँ हैं। फिर भी मध्यमरूप से व्याकरण की शिक्षा पाने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है। और और प्रान्तों की अपेक्षा बंगाल में इसका अधिक प्रचार है। इसके प्रणेता शर्ववर्मा जैन थे या जैनेतर यह अभी विवादग्रस्त है। महाकवि सोमदेव भट्ट-रचित कथा 'सरित्सागर' में इस ग्रन्थ की उत्पत्ति की एक कथा मिलती है। उसमें इसके निर्माता शर्ववर्मा अजैन सिद्ध होते हैं। किन्तु दिगंबराचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव अपनी 'रूपमाला' नामक टीका में कातन्त्र को जैनग्रन्थ घोषित करते हैं। बल्कि 'कातन्त्रविस्तर' और 'रूपमाला' नामक दिगम्बरीय टीकाओं के अतिरिक्त कातन्त्र पर श्वेताम्बरों की भी कई टीकायें उपलब्ध होती हैं।† अस्तु, कातन्त्र के रचयित्ता के संबंध में विशेष खोज करने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त 'कातन्त्रविस्तर' के रचयिता वर्द्धमानजी हैं। 'भवन' की यह प्रति अपूर्ण है, इसलिये आपकी गुरुपरम्परा आदि का कुछ भी पता नहीं लगता। प्रस्तुत प्रति मूड़बिद्री जैनमठ के ग्रन्थ-भाण्डार में वर्तमान एक तालपत्रीय प्रति की नकल है। वहाँ की वह प्रति भी अधूरी है। स्वर्गीय बा० पूरणचन्द्रजी नाहर ने 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १ में प्रकाशित 'धार्मिक उदारता' शीर्षक अपने एक लेख में वर्द्धमानजी को श्वेतांबर लिखा है। ज्ञात नहीं होता है कि आपके इस कथन का आधार क्या है। क्योंकि 'जैन-साहित्यनो इतिहास' एवं 'जैनग्रन्थावली' आदि में इस बात का कुछ भी संकेत नहीं मिलता है। बल्कि नाहरजी ने उक्त लेख में इन्हे सूरी (आचार्य) के रूप में उल्लेख किया है। पर 'कातन्त्रविस्तर' की इस प्रति में उपलब्ध किसी भी प्रकरण के अन्त में वर्द्धमान इस नाम के साथ 'सूरी' शब्द नहीं मिलता है। हाँ, 'कर्णदेवोपाध्याय' यह विशेषण अवश्य मिलता है। पता नहीं लगता है कि वर्द्धमानजी के द्वारा प्रतिपादित यह कर्णदेव कौन हैं। इन सब बातों को हल करने के लिये ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति अत्यधिक अपेक्षणीय है। आशा है कि किसी ग्रन्थालय में 'कातन्त्रविस्तर' की पूर्ण प्रति हो, वहाँ के उदार विद्वान् उस प्रशस्ति की अविकल नकल हमारे पास भेजने की कृपा अवश्य करेंगे।

---

† देखें—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १

# THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VIII JUNE 1942 No. I

*Edited by*

Prof Hiralal Jaina M A LL.B
Prof A. N Upadhye M A., D Litt
Babu Kamta Prasad Jaina M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR INDIA

*Annual Subscription*

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

# CONTENTS.



Om

# JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol VIII No I | ARRAH (INDIA) | June, 1942


## SOME OF THE LATEST INSTITUTIONS AND JOURNALS AND THEIR WORK IN THE FIELD OF PRĀKRIT STUDIES, ETC.[1]


By

Dr A N Upadhye


It may look strange but it is a fact that though the material was available on the Indian soil the credit of the pioneer work of assessing its value and interpreting its significance to the modern world goes to Western scholars especially the great savants working in the Indological departments of European Universities Many of them were inspired by a zeal for learning and scientific study quite characteristic of the last century For decades together the march of Sanskrit and Prākrit studies was led by German scholars of great repute They have given excellent methods to us, and they are like ideals to us to inspire us by their patient labour, scrutinising system methodical thoroughness and maturity of judgment Our

1 This forms a portion of the Address delivered by Prof A. N Upadhye as the President of the Prākrit, Pāli Ardhamāgadhi (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All India Oriental Conference, Hyderabad December 1941

traditional methods require rejuvination in the light of the progress of Oriental studies in the West At present we are passing through a transitional period The old generation of veteran Indologists is fast disappearing in the Western Universities, the materialistic forces let loose under the auspices of nationalistic madness are destroying whatever little good was there in the Western Civilization and Culture; the younger generation has not got that mental quiet, and there is such an all round obsession due to the cataclysms in domestic affairs that hereafter the attention of Western scholars towards Indian studies is sure to disappear gradually In India, on the other hand, there is national awakening everywhere, and many scholars are devoting their time to the study of different branches of Indology I have the highest respect for all that the Western savants have done for Indian studies But we too have to be alive to our duties towards our ancestors who have left to posterity the great heritage of literature Our ancient centres of learning like Nālandā and Taksaśilā did attract students from abroad. That reputation has to be recovered once more It is in the fitness of things that Sanskrit and Prākrit studies have to be carried on by Indian scholars at the front. Our ancient ideals must be pursued according to modern methods What is needed is strenuous and methodical labour coupled with earnest devotion and singleness of purpose The sons of that land that produced Pānini and Hemacandra need not be despondent; only they have to put forth skilled and organised work as the time requires to-day In later years some new Institutions have come into existence, and their aims and activities, so far as they are connected with this section, might be reviewed here

The Deccan College Post-graduate and Research Institute has been started under the auspices of the Government of Bombay. Remembering the great traditions of Sanskrit learning associated with the Deccan College, the zeal with which this Institute has been started and that it has been founded in a prominent educational centre like Poona, there are reasons to hope that it would soon establish itself as a research centre of an all-India repute with its eminent Professors leading the front of Indological studies in various

lines The departments so far opened, do testify to a comprehensive outlook but one fails to understand how the Bombay Government and its advisers omitted to assign a chair for Prākritic languages along with those of Linguistics and Sanskrit It is a gap that is detrimental to an all sided study of Indian literature and comes like a reversal of the long standing and well-planned policy of the Government of Bombay For decades together valuable Prākrit Mss were collected by the Bombay Government, and now they are deposited in the Bhandarkar O R Institute This is one of the richest treasures of Prākrit Mss Important Prākrit texts were edited by Pandit and others and published in the Bombay Sanskrit and Prākrit Series Valuable Reports were compiled by Peterson, Bhandarkar and others and they were published directly or indirectly under the Government patronage After collecting such valuable material and doing so much spade work, the Government and its advisers should have assigned a separate Department for Prākrit studies Still it is not too late to fill this gap The Bulletin of the Institute (Vol I) contains the following papers connected with this section H D Sankalia Jaina Yakṣas and Yakṣinis and the so-called Buddhist Images from the Baroda State S M Katre The roots of the Pāli Dhātupathas M A Mehendale Takki or Dhakki R D Laddu The Prākrit stanzas in the Kavindra candrodaya Some of the papers connected with Prakritic languages testify to the fact that there is much unworked material in Prākrits and that consequently there is a need of a special department for Prākrits

Virasevāmandira of Sarsawa Dt Saharanpur) is an academic *enterprise of Pt Jugalkishore to start a centre for research in Jaina* literature We have in him a first rate living authority on various problems connected with Jaina literary chronology Under his editorship the Mandira issues a Hindi monthly which has published a good deal of valuable material in the last two years Pt Jugalkishore has discussed many important topics The relative age of Kundakunda and Yativrsabha (II, 9 ff) Earlier glosses on the Bhagavati Ārādhanā (II 57 ff); Pujyapāda and his works (II 400 ff 443 ff) Tattvārthasūtra of Prabhācandra (III 394 ff, 433 ff) and Pingala of Rājamalla (IV 245 ff 303 ff) Pt Paramananda is

doing very useful work, and some of his contributions have brought important facts to light; some of his important articles are: Kundakunda and Mūlācāra (II 222 ff., 319 ff), Bhagavatī Ārādhanā and Vijayodayā (II 371 ff, 437 ff); Pañcasaṁgraha, Gommatasāra and the Karmaprakṛti (III 256 ff., 279 ff., 378 ff, 537 ff.); Siddhasena's indebtedness to the Sarvārthasidhi (III, 629 ff); and on the seeds of the Tattvārthasūtra (IV. 17 ff.) Pt. Mahendrakumar has discussed the date of Prabhācandra (II. 61 ff., 215 ff., IV 124 ff.) and has brought to light the Ms of Satyaśāsanaparīksā of Vidyānanda (III. 660 ff.). Mr Agarchand Nahta is doing useful work on the Mss from Rajputana, and he has written on the following topics Various works on the life of Śrīpāla (II 155 ff., 428 ff), Digambaras and Śvetāmbaras (II. 543 ff), and Padmasundara and his works (IV 470 ff). The discussions of Pt Jugalkishore (II 485 ff, 685 ff.); Pt Dipachanda Pandya (II 611 ff.) and Pt. Premi (II 666 ff) have fully brought to light not only a complete Ms. of Jagatsundarīyogamālā, a medico-tantric text in Prākrit, but also a good deal of information about it and its relation with Joṇīpāhuda An informative article of Muni Chaturavijayaji on Bhadrabāhu is translated into Hindi (III. 678 ff.). Pt. Premi in some of his articles has brought new facts to light and in others supplemented his earlier discussion Researches into Yāpanīya literature (III 59 ff.); Āśādhara (III 669 ff., 695 ff.), Śrīcandra and Prabhācandra (IV. 82); and Mahākavi Puspadanta (IV. 403 ff). Whether Akalanka is indebted to the Tattvārtha-bhāṣya has been discussed with much fervour by Prof. Jagadishchandra, Pt. Jugalkishore and others (III. 304 ff, 623 ff, 666 ff., 728 ff.). When the sentiments ebb away, the facts will clearly stand out; and the dispassionate student would be able to pick them up in their proper perspective after some time. Prof Hiralal has given his observations on the Pañcasaṁgraha and the Karmaprakṛti (III 409 ff., 636 ff)

The Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay, owes its existence to the academic zeal of Sri K M Munshi and the liberal patronage of Sheth Goenka. It aims to be an association which will organise active centres where ancient Āryan learning is studied and where modern Indian culture is provided with a historical back-ground.

Through the munificence of different donors the Institution is equipped with various departments and we are glad to note that besides Sanskrit and Comparative Philology, a department of Prākrit languages also has been organised We may entertain legitimate hopes that the Institution will be a guiding centre for the study of Sanskrit and Prākrit philology and the history of Prākrit literature for which rich material lies neglected in the Bhaṇḍāras of Western India In the near future it should be possible for this Institute to equip the departments of Philology, Prākritic languages and Jainism with ready accessories in the form of select topical bibliographies card indexes for journals and books, critical summaries of important papers in magazines etc, so that the Institute might become an useful bureau of information for Oriental scholars working in these subjects all over the world Thus the need of a central organisation for co ordinating the results of research workers so far as Jainism and Prākrits are concerned, might be partly fulfilled

This Institute has started a Series for the publication of works, the first volume of which is the Visuddhimagga edited in Devanāgari characters in a nice form by Śri Dharmananda Kosambi by whose labours this edition occupies a distinct place among the Pāli texts Further it conducts two journals one half yearly in English and the other, a quarterly in Hindi Gujarati In the last two volumes of the English Journals we have the following contributions connected with this section A S Gopani Characteristics of Jainism (I 168 ff) Ājivika sect a new Interpretation (II 201 ff III 47 ff) and Riṣṭasamuccaya (being published as a supplement) Jinavijayaji Kuvalayamālā (II 77 ff, 211 ff) S M Katre New Approach to the Study of Middle and Modern Indo Aryan (I 135 ff) and Some Problems of Historical Linguistics in Indo-Aryan (II 220 ff) Kosambi On the Life of Buddhaghoṣa (I 113 ff) P T Raju Nāgārjuna s Conception of the Sūnya (II 43 ff) V S Sukthankar The position of Linguistic Studies in India (II 23 ff) A N Upadhye Gommaṭa (II 48 ff) Vālmīkisūtra, a Myth (II 160 ff) and Sirisirindhakavvam of Kṛṣṇalīlāsuka (III 61 ff) In the Hindi Gujarāti quarterly we may note the following articles Bechardas Etymology of some Sanskrit and Prākrit Words (I 381 ff) M. D

Desai: A Jaina Gurvâvali in old-Gujarati prose written in Saṁvat 1482 (I. 133 ff) Jinavijayaji. The Royal saint Kumārapāla (I 221 ff.) M C. Modi: Svayambhū and Tribhuvana Svayambhū, the two Apabhraṁśa poets (I 157 ff, 253 ff) S M Nawab. Old Jaina Images from Gujarāt (I. 179 ff). Sukhalalaji: Pramāṇamīmāṁsā of Hemacandra (I. 9 ff.) The latest number gives two important supplements: Bharateśvara-Bāhubali Rāsa, the earliest Gujarāti poem and the first forme of Abdul Rahman's Saṁdeśa Rāsaka in Apabhraṁśa, both of which are ably edited by Śri Jinavijayaji

The Jaina Vidyā Bhavana is lately founded at Lahore 'with the object of creating a centre of Jaina studies.' A comprehensive programme is chalked out for advancing Jaina studies which are 'quite indispensable for a full understanding of India's past. The programme includes the 'reconstruction of a comprehensive history of Jainism' which, as far as I know, has not been undertaken by any Institution. Of this there is an urgent need, and the Bhavana can co-operate with Bhāratiya Itihāsa Parisad, Benares, in completing the 3rd volume of the National History of India planned by the latter. The first number of the Jaina Vidyā the Anglo-Hindi Quarterly of the Bhavana, contains some important articles. A M. Ghatage. The title Mūlasūtra. M D Desai: Some Farmans granted by Akbar to the Jainas P. K Gode: The date of Nāṭyadarpaṇa, between A. D. 1150 – 1170 Becharadas: The various Names of Mahāvīra (in Hindi) With the co-operation of Motilal Banarasidas and Mehrachand Lacchmandas it should be possible for this Journal to publish an up-to-date list of published Jaina works month to month

The Jaina Research Society. Delhi, and C P. Berar Jaina Research Institute, Yeotmal, are some of the latest institutions; but as yet we are not fully acquainted with the work carried on by them

I have referred to the activities of some of the latest Institutions so far as they come under this section The rise of the Institutions is quite in tune with the spirit of the time. Further it is necessary

that every one of these institutions in consultation and co-operation with others, old as well as new should see that there is no duplication of work and no waste of labour Specialisation, so far as it is practicable is necessary on the part of these institutions so that all of them together contribute to the advancement of knowledge in different branches of Indology Luckily much work has been done in the fields of Pāli and Buddhism But in contrast to the wealth of material and the problems that face us in Prākritic and Jaina studies the number of serious workers in the field has been unfortunately very small

---

# DOES UDAYANA REFER TO JŌINDU?

Dr. V. Raghvan, Madras

On page 57 of his Introduction to the Paramātmaprakāśa of Yogīndu, edited by him as No 10 of the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Dr. A N Upadhye says about the name of the author that Jōindu or Jogīndu or Yogīndu is the correct name of the author and that, by a mistake, the Sanskrit form Yogīndra had become popular

On pp. 63–67, ibid, Dr. Upadhye discusses the date of Jōindu and concludes that the date falls between those of the Samādhiśataka and the Prākrta Laksana Since Jōindu "closely follows Samādhiśataka of Pūjyapāda" and since "Pūjyapāda lived a bit earlier than the last quarter of the 5th cent. A. D.", the upper limit of the date of Jōindu can be taken as the last quarter of the 5th cent. A. D. The lower limit is furnished by Caṇḍa one of whose illustrative dōhās in his Prākṛta Laksana happens to be from Jōindu's Paramātmaprakāśa. Dr Upadhye notes some want of settlement on the question of Caṇḍa's text and date and says in conclusion that the revised form (of Caṇḍa's work) can be tentatively placed about 700 A. D.

In view of the difficulties relating to this lower limit evidence, i e, Caṇḍa's Prākrta Lakṣaṇa, I may add here a note on what I take to be a reference to Jōindu by an author of known date. If we leave Caṇḍa, the next limit suggested by Dr. Upadhye is Devasena who finished his Darśanasāra in A D. 933. This evidence rests on the similarities of some verses of Devasena and Jōindu. If, on the other hand, there is a definite mention of the writer, it would be a more conclusive evidence Such a mention, I think, is available.

Udayanācārya wrote his Laksaṇāvali in A. D 984. In his Ātmatattavaviveka, Chowk Skt Series, 1940, p. 430, we read the following :—

" 'वेदविद्वेषिदर्शनान्तःपातिपुरुषप्रणीतत्वात्'

इति मा शङ्किष्ठाः, जिनेन्द्रजगदिन्दुप्रणीतेष्वप्यादरात्।"

I think the name *Jagadindu* in the above passage is a slight corruption of Jōindu or Yōgīndu.

If this suggestion is acceptable, Udayana's date will give a definite lower limit and will clearly prove the untenability of any later dates proposed for Jōindu (See Dr. Upadhye's Foot-note on p 67 of the Intro. on the date proposed by Mr. M. C Modi).

# MAGIC & MIRACLE IN JAINA LITERATURE

By

Kalipada Mitra, M A , B L

(*Continued from Vol VII No II page 88*)

Cowell and Rouse translate *Vāruni* as ' one possesst Rhys Davids compares Maddi with a Vāruni woman who used to prophesy under the professed influence (āveśa) of god Varuna The P T S dictionary gives the following meanings of Vāruni an intoxicated woman female fortune teller, J VI 500 *devatā bhūta paviṭṭhā yakkha-dāsi viya gahitā ikkhanika viya* The *Sigālovāda uttanta* (D N xxxi) has *akkh ṭṭhiyo Vāruni* ' The Pali Commentary has *yakkhāviṭṭhā ikkhanā* The P T S dictionary explains *yakkha dāsi* as ' a female temple slave or perhaps possessed by a demon (? J vi 501 (v 1), *BB devatā paviṭṭhā* cf 586) In the *Āvaśyakasūtra* we read (Part I p 219) *Itthī puriso vā jakkhāiṭṭho piyamajjo vā jālo kāyavikkhevakiriyāto damsei sā viḍambanā* In the *Upamiti* we read of magic contrivances to ward off diseases, which among others consist of asking questions summoning *yoginis* etc (*avatarditāh praśnāh abhyarthitāh yoginyah* )

It seems that the female temple servant (*devadāsī*) was sometimes used as a medium for communicating oracular answers by causing her to be possessed by some god or spirit so that she also became a *devadarśinī* or seeress This practice (as well as similar practices, e g *Kumāripañha* or obtaining oracular answers from a girl supposed to be possessed by a spirit *D* I 11 = *D A* 1 197) was of course condemned by the Buddha, but it had such a fascination for the people, that we may conjecture that it was nevertheless practised though sometimes clandestinely

In Vātsyāyana s *Kāmasūtra* 4 1 9 the wife is warned against associating with an *īkṣaṇikā* or a fortune teller The Commentator explains *īkṣaṇikā* as *vipraśnikā* *īkṣaṇikā* is derived from the verb

*īks* to see, *vipraśnikā*, from *pracch*, to ask. One who has to tell another's fortune pretends to see the future, and in this sense may be an *īksanikā*, but what has she to do with questioning so as to be *vipraśnikā*? Evidently in order to be able to tell the future, she pretends to ask some spirit-possessed person her questions and to get answers, as interpreted in the Jaina commentary mentioned above.

There is reference to this science of questioning in Jaina literature, known as *pasinavijjā*, e.g., in the *Thānāngasutta*, 10, and *pasinā-pasina* in *Pravacanasāroddhara* 2, and *Bṛhatkalpabhāsya*, etc. By means of a magic spell a deity or a spirit was invoked, and it was compelled to appear either in dream or trance, and then was caused to give oracular answers, to say why such and such a thing happened, how a particular calamity was to be averted, whether a particular undertaking was to be fruitful or fruitless etc. In the *addāapasina* a deity was caused to appear in a mirror and was asked questions Even it was believed that the particular disease which attacked a person could be made to be reflected in a mirror (*addāavijjā* in *Vavahārasutta*) and be asked to leave the patient. This shows that the disease was regarded as an evil spirit and could be exorcised—an idea which has persisted since the time of the Atharvaveda. People believed that deities appeared in dreams and announced future events, e g in *Pārśvanātha* (Bloomfield, p 179) the parrot who had become a god visited a person in a dream and told him that he would die at the end of seven days, or warned people against their transgressions (see *Samarāiccakahā*, p. 292. *tao suminayammi coiyā aham bhayavaie*). They could also be compelled by means of magic to appear in dreams or trance to answer their questions. Portents from *ruya* or sounds of birds and animals, *nimittas* etc. I propose to treat separately under the heading "Dreams and Omens"

Sakka came to the lying-in room and told the mother of Tīrthankara Ṛṣabha that he had come to celebrate his birth. By magic he put them all to sleep (*osoyanim dalai*), made an image of Tīrthankara which he placed by the side of the mother and created five Sakkas...and transported the babe to the Mandara hill. He does the same thing in the case of Tīrthaṅkaras Supārśvanātha and

Pārśvanātha [21] Harinegamesi while transferring the foetus of Mahāvira from the womb of Devanamdā to that of Triśalā puts Devānamdā and her attendants to magic sleep (*Devānamdāe saparuyanāe osoyanim dalei*) Draupadi is in this way put to sleep in *Nayādhammakahā* [22] by a god and abducted to King Paumanābha s Asoka park in Amarakanka, his capital *Osayani* or *osāvaniyā* is *avasvāpani* or *avasvāpanikā* (from root *svap* to sleep) or sleeping charm We find reference to it in *Pariśiṣṭaparvan* 2 173, and to *avaśvāpini* in Rauhineya Carita 14, *viz*

*kathayitvā khaned gartam dattvāvasvāpinimapi* ।
*yāti jāgarayitvā so kalaniyaś ca duhsahah* ॥

Prabhava, the bandit son of Vindhya King of Jaypur and the Chief of the gang of robbers had two spells, *viz* (1) *avasvāpanikā* for casting all asleep, and (2) *tālodghāṭini* for opening locks He could put even walking persons to sleep, but *avasvāpanikā* " this aristocratic spell, had no effect on Jambu , [23] for he was a *bhāvayāti* about to renounce the world When the robbers entered the room of Jambu, he warned them not to touch one of his sleeping wives Prabhava asked him to be his friend and give him the spells of *stambhani* and *mokṣani* in exchange for his two spells [24] In *Supasanaha* (p 221) a thief stole without being seen The king caused him to be brought to his presence by means of his *Ceṭaka* spell He asked the thief

*I aham na musanto disasi sa bhanai osoyanie vijjāe* ।
*sovāvūna loyam musemi icchāe gharasāvam* ॥ 378 ॥

---

21 *Supāsanāhacaria* p 47

Iya thoūna jinajananim avasovanidānapuvvayam Sakko ।
Thabiūnam veyuvvlyajinapadirūvam jananipāse ॥

*Pārśvanātha* (Bloomfield) p 233 Sakka (Indra) casts *osovaniya* In 5 85 and takes it away in 5 113

22 *Op cit* p 214 dovatiye osivaniyam dalayi dovatim devim ginhai

23 Stevenson—*Heart of Jainism*, p 69

24 *Pari.* Canto II Sls 171—184

In the *Divyāvadāna* (story of Makandika) the seraglio was thus put to sleep (*antahpurasya āsvāpanam datvā*).[25]

In the story of Bandhudatta, narrated in the life of *Pārśvanātha* (p. 75) we read that a thief frightened by a Muni's exposition resorted to asceticism, under the instruction of his *guru*. Out of regard for him the teacher had bestowed on him the sciences (*vidyā*) of going through the air and of opening locks, with the proviso, unless he preserved purity of life and avoided lies he would lose them. But in case he did lie from carelessness, he was to stand in the water up to his navel and with arms held upward recite the *vidyās* 1008 times. He jocosely told a lie and did not perform the expiation for this lie. He committed theft by night, and was seized by the guards, whereupon the *ākāśagāmini vidyā* left him[26]. The same story is told in *Samarāiccakahā*, p. 230. In the *Nāyādhammakahā* (p 237), Cilāe, the leader of the gang of robbers intending to loot the house of merchant Dhanna and especially to seize his daughter Suṃsumā for himself, comes by night to the eastern gate of Rāyagiha, recites (*āvāhei*) the *tālugghadāṇivijjāṃ*, sprinkles water[27] on the gate and opens it. It has been claimed for each one of the 44 verses of the *Bhaktāmarastotra* of Mānatunga, that if repeated it could break open a locked door[28].

The *stambhanī* (*thambha*, or *thambhana*, *thambhanī*) *vidyā* has the effect of stunning or making one motionless[29] and *mokṣaṇī* of dissolving the spell, bringing about release. There is mention of *jambhanī vidyā* in *Sūyagadaṃga* (2. 2. 15) and *Paumacaria* (7, 144),

---

25 cf. the *Telapatta-jātaka*

26 cf. for *Tāludghāṭinī vidyā Pārśvanātha*, 8 158, and *Vasudevahiṃdi*

27 Water had magic property cf Harṣa's *Priyadarśikā* (p 88, Nariman and Jackson) for use of water before reciting a charm and for beginning incantation to counteract the effect of poison taken by the heroine

28 Stevenson, *op. cit*, p 80

29 *Sūyagaḍaṃga*, 2 2 15 ; *Supā*, 493, 599, *Nāyā* 1. 16. *Kumārapratı* p 165, " to jogiṇā pautta imtassa thambhaṇī vijjā"; p. 405, devie thambio dhanio. thambhovva thiro nipphaṃda loyano , p 469

which apparently had paralysing effect Probably it caused people to yawn (√jṛmbh) Lava paralyses the army through the aid of the *jṛmbhaka* weapons

The magical power of flying through the air was well known It was condemned by the Buddha as *uttarimanussadhamma* [30] The Jaina saint Pādalipta acquired the magical power of flying through the air by applying medicinal ingredients to his feet and daily performed pilgrimage of the five sacred places including Śatruñjaya (Palitana and Girnar or Ratnagiri [31] A story is related in *Pari* how Vajra obtained the lore of flying through the air Some Jṛmbhaka gods in order to test the character of Vajra, who was destined to be a monk produced by magic an encampment made out a laager of carts (*maṇḍalakṛtaśakaṭam*) spread out goods for sale stabled horses, bulls and camels etc and invited the Ācārya to get alms from them. He sent Vajra for the purpose the latter returned as imperceptible rain drops were still falling The gods caused the rain to cease entirely, and Vajra went out to collect alms, but perceiving that the things given were out of season and the donors eyes did not twinkle nor did their feet touch the earth (*ditaropyanimeṣākṣā abhūspṛkcaraṇā iti*) he concluded that they were gods, from whom the Jaina monks were forbidden to take alms The gods revealed themselves to him and satisfied with him for his correct conduct, gave him the *Vaikriya* spell (*vaikriy i labdhyā khyām vidyām*) He was tested again and rewarded with the

30 C V V 8 2 The Buddha reprimanded Pindola Bhāradvāja for flying through the air (*vehāsam abbhuggantvā*) thrice round Rājagaha ' *katham hi nāma tvam Bh radvāja chavassa dārupattassa kāraṇā gihīnam uttarimanussadhammam iddhipāṭihāriyam dassessasi* Sariputta and Moggallana flew through the air Āyasmā Sāgata (M V v 1 5 8) and Āyasmā *Pilindavaccha* (M V vi 15 8 9) showed *uttari iddhi*

31 Jhaveri—Pādaliptasuri s *Nirvāṇa kalikā* Intro p xi quoted by C. J Shah—*Jainism in North India* p 193 See also Stevenson, *op cit*, footnote 1 to p 78 and Tawney s *Kathākośa* p 95

*ākāsagāminī* spell [32]. The Vidyādharas had this faculty of going through the air [33]. Prince Jayadratha obtained from goddess Vairotyā two pills (*gulike*), the one of which thrown into the mouth gave him the power of flying through the air, and the other, the power of assuming the desired form [34].

It is related in *Pari* that once a dreadful famine in Northern India caused immense distress and the monks could not get alms Vajra created by magic "a large carpet on which he bade all the monks stand. The carpet flew up in the air with the Samgha assembled on it" (p. 325, *palam vicakre vipulam cakrabhṛccarmaralnavat*) The carpet landed them in Puri. The king of Puri was a Buddhist and so were some of the inhabitants, but the majority were Jainas At one time the king forbade selling flowers to Jainas, whereupon Vajra went through the air to the garden of Hutāśana and then to the Himalaya and Padmahrada, and thereafter returned with Śridevi's lotus and twenty lakhs of flowers from the park of Hutaśana to Puri The miracles induced the Buddhist king and his subjects to adopt the Jaina faith [35].

It is said that Vajra possessed the *padānusṛti vidyā* since his birth (*janma-samsiddhipadānusṛti-labdhinā*) Jacobi says that it is derived

---

32 *Pari* Canto XII, Sls 140-60 pp 307-9, Sls 280-91, 307-309, for his magical powers, also the *Āyāranga*. Dr Jacobi remarks that the possession of magic spells appears to be attributed to Vajra in the legends because the sign of the Vajra is made use of by the professors of the occult art in *Pari* p 74

33 *Samarāicca* p 339, *nahagāminī* or *nahangana gāminī vijjā*; pp 413-414 *gayanagāminī vijjā*, *Kupra* p 126, "*sāhiyāo gayanagāminippamuhāyo vijjāo*" See also *Paumacaria*, 7, 144, "*āgāsagamā*," Ovavāiya, "*āgāsagāmiṇī*" *vijjā*; *Surasundarīcaria*, 13, 186, *nahagamā*, 3, 28, *nahagāminī vijjā*.

34 *Kupra* pp 361, 362, *nabhogamanasām arthyam*

*Kanṣyati mukhekṣiptā tavaikā vyomagāmitām* |
*dvitīyā tvīpsitam rūpamityuktvā devatā yayau* ||

35 *Pari* Canto XII Sls 375-88; also Stevenson, op cit. p. 78 She observes · The more enlightened Jainas say that this carpet really represents some modern notion of locomotion (steam engine, motorcar, or aeroplane), the secret of whose construction Vajra had anticipated.

from Prakrit *payānu āri* which may be either *padūnusārim* or *padunus mārin* Vajra remembered every word that he had heard (*Pari* XII 161) To remember a word that one has heard before is nothing extraordinary, but to trace a word which has never been heard before must be due to magic power In *Samara* Dharana became a *pudanusāri* (p 407 *payānusāri samjoutto*) Once he observed a Vidyādhara named Hemakundala trying in vain to fly up into the air, as he had lost the faculty of flying, since he had forgotten one word of his spell Dharana made him recite the spell, and discovered for him that missing word (p 414 *pathiyā vijjā laddham payam Dharanena*) Dharana never knew or heard the spell before so it is not a case of remembering but the mysterious faculty of divining one or many unuttered or unheard of words on hearing one word [36]

Pādalipta applied medicinal ingredients to his feet to enable him to fly through the air We read in *Pari* of a Brahmanical ascetic of the Tāpasa sect who used to anoint his feet with a magical unguent to enable him to walk on the water as if it were dry land In this way he visited the town to the astonishment of the people[37] He bragged of the superiority of his religion and abused Jainism Āryaśamita discovered that the Tāpasa had no real power and wanted to show him up as an impostor On his advice a rich Śrāvaka invited the Tāpasa to a sumptuous dinner and washed his feet and sandals in such a fashion that no atom of the magical ointment was left on them The Tāpasa became sad, yet he hoped that some ointment might still cling to them After dinner he attempted to walk on the river but sank down and was ridiculed by the crowd Āryaśamita bade the banks of the river meet and stepped on the opposite shore The miracle produced so great an impression on the Tāpasas that they became Jaina monks Even without the application of unguents saints were said to have walked the waves The Buddha and the Christ walked the waves

36 *Ova Brha* 1, *Panha.* 21

37 Canto XII Sl 69 99

Vidhya pādalepam ca p duke pandhāya ca l
jalēpi sthalavat pādam vinyasya saficacra sa ll

The *Vaikriya* spell was given to Vajra by the Jṛmbhaka gods. *Vikurva* (Pr. *Viuvva*) means to 'make by magic'. Devas and *Vyantara* gods by their own divine power could assume several forms In the *Uvāsagadasāo*, Kāmadevajjhayanaṃ, a god assumes the forms of a *piśāca*, an elephant, a serpent and a *deva* to frighten Kāmadeva [38]. In the Āvaśyakasūtra, a deva, in order to test Vāsudeva, assumes the form of a black dog '*Kālasunagarūvaṃ viuvvai*). In the *Upamiti* a *vyantara* god named Kālajña assumes the form of Mugdha (Kṛtamanena devaśaktyātmano *vaikriyaṃ* Mugdharūpaṃ goes to Akuṭilā, Mugdha's wife, with whom he has fallen in love and leads her to a plantain bower, meanwhile Kālajña's wife, Vicaksanā who has fallen in love with Mugdha, assumes the form of Akutilā and leads him to the same bower Mugdha thought that by the grace of sylvan deities he and his wife had been doubled [39]. In the life of Pārśvanātha there are many such references [40]. In Pāli literature we come across such instances, e.g., Indra's assuming forms in the Illisajātaka, Sivijātaka etc.

But forms could be assumed or changed by means of magic spells, or ointments etc. A yogi gives Prince Manicuḍa the science of changing forms (*rūvaparivattinī vijjā*) [41]

In *Supā* the Vidyādevi pleased with the valour of Prince Guṇarāja gives him the power of assuming any form he likes [42]

In the *Kathākośa* is related the story of Sumitra who entered a seven-storied palace in a deserted city and saw two female camels. In the window there were two vessels, in the one there was white

---

38 Eye māyī micchādiṭṭhi mahaṁ pisāyarūvaṃ, divvaṃ hatthirūvaṃ, capparūvaṃ, devarūvaṃ, viuvvai

39. *Upamiti*, pp 244-245, bhagavatīnāṃ vanadevatānāṃ prasādādeva dviguṇo' ham sampanno devī ca

40. Pārśvanātha, 1, 601, thief producing by magic a big rock; 2. 352, assuming the form of lion, 2 411, producing an excellent vimāna, etc.

41. *Kupra*. p. 126; also p. 244, 'dinno garuḍa manto rūvaparivattinī tahā vijjā"; and p 336. "ato rūpaparāvartavidyāmādaya me priyam."

42. *Supā*. p. 151, kāmiyarūvadharatteṇa taṃ ca tuha hou maha vayaṇā ॥82॥

collyrium, in the other black In the same place there was a collyrium pencil for the eyes Guessing that the white collyrium had turned them into camels he applied the black collyrium to their eyes when they became two girls of unexampled loveliness [43] In the second story of the *Pañcadandachhatraprabandha* a cat was found with eyes smeared with white ointment (*añjana*) when black ointment was applied she turned into a lovely princess Rsidattā received from her father knowledge of herbs, one of which she put in her ear and became man, and at a suitable moment recovered her womanly form by means of another herb [44] In *Kupra* a parivrājikā says that she has two herbs by one of which a woman becomes a man, and by the other a man becomes a woman [45]

Stories are related of magic places or pools reputed to possess metamorphic virtue In a wood on the Ganges there lived a couple of monkeys who loved each other tenderly Once the male monkey jumped carelessly fell down and died, but rose at once as a man, such was the holiness of the place His spouse followed his example and became a girl of great beauty The man hoping to become a god by repeating the experiment, jumped again but was changed into a monkey [46]

We read of the magic power of making oneself or others invisible Sanatkumāra received from his friend Manoharadatta a magic shawl which rendered the wearer invisible.[47] Robber Candarudra had a magic pill named *paradrsti mohani* if rubbed with water and applied to one s eyes, like collyrium, it would make him

43 Tawney—*Kathākośa* p 130

44 *Kathākośa* p 110

45 *Kupra* p 239

Atthi maha osahi dugam gurudinna u tattha nimmie tilae I

Ekae thipurso biyae so havai itthi II

46 *Pari.* p 26 ll 407 ff for parallels see Bloomfield s Pārśvanātha p 127 *Parable of the monkey pair who became human and other citations*

47 *Samarāiccakahā* p 329 nayana mohanībhih pa i padarayana p

invisible, even to the thousand-eyed Indra.[48] King Harisena received from abbot Viśvabhūti the secret of preparing a collyrium which had the property of making one invisible; with this he made his daughter Ṛṣidattā invisible[49]. When for twelve years a famine lasted, Ācarya Susthita, who lived in Candragupta's capital, sent away his *gaṇa* to some other country. Two young pupils came back. They suffered from hunger unable to bear which they learnt the science of making themselves invisible by rubbing their eyes with a miraculous ointment They then went to the palace, sat by the side of the king, and ate from his plate Cāṇakya however discovered them.[50] This device of making oneself invisible and then taking away the food is called *cūrṇayoga*, and comes under *utpādanadoṣa* in the *Uttarādhyayanasūtra* (Lect. 24) where the faults of monks' seeking food have been enumerated, some of which are *vidyāpiṇḍa* (conjuring a god to get alms), *yogapiṇḍa* (teaching people spells, tricks etc.), *mūlakarman* (averting evils by roots, charms etc.), and *mantradoṣa*. In *Kupra* Abhayasimha obtains from his mother, who has become a Vyamtari, a spell that renders one invisible (*padhiyasiddham adissīkaraṇamantaṃ*) and escapes the city-guard by being invisible [51] Mention is also made of it in *Supā*,[52] *Sūyagadaṃ*,[53] (antaddhāniṃ), etc. There is an abundant reference to it in Sanskrit literature. Celestial nymphs used the *tiraskariṇī vidyā* [54] when on earth. A magic ring renders a hero invisible to all but his beloved.[55] In *Mṛcchakaṭika* a magical ointment named *yogarocanā* renders one

48 *Ibid*, p 423. paradittimohaṇī nāma coraguliyā, tīe udayasamjoeṇa añjiehim nayaṇehim sahassaloyaṇo devāhivo na pecchai

49. Tawney Kathākoṣa, p 103.

50 *Pari*—pp. 60, 61 Canto VIII Sls. 377-413, *adṛśyatva*-kārakaṃ divyamañjanaṃ.

51. Kupra. pp. 37—39.

52 *Supā*, pp. 454—55

53 *Sūya* 2 2 15.

54 *Vikramorvaśī* by G Vaidya, pp 24, 28, 30, 52, 53, Urvaśī and Śakuntalā become invisible See S B E, Vol XLIV, p. 70

55. *Avimāraka*, Act, IV; also *Śakuntalā*, Act VI.

invisible and invulnerable.[56] In Pali literature there is reference to this *vidyā*.[57]

In *Pārśvanātha* (pp 57, 58) an atmospheric crystal (*āgāsaphalihā ākāsaphalikā khaphalikā*) is reputed to have the virtue of making a thing invisible also it could make anything into which it was fixed float in the air When it was fixed to a throne by a king it made it float in the air

There are stories of inanimate statues or paintings on the walls suddenly becoming alive, doing something special and relapsing into *status quo* When Bhima ascended the seventh story of a palace he was greeted by sweet sounds emitted by Śala wood statues which descended from their pedestals and conducted him to a golden throne.[58] In *Samarā* (p 500) merchant Sāgara witnessed something strange His wife had lost her necklace sometime ago that day when he was in his picture gallery (*citraśālā*, properly a room with frescoes on the wall) he saw a peacock stepping bodily out of the painting after depositing the lost necklace the bird returned to its original place and form in the picture When Nanda s dependent chiefs refused to obey him, he asked the armed guard to put the assembled chiefs to death but they disobeyed him Now there were two sentinels painted *al fresco* on the wall (*pratīhārau lepyamayau*) Into these pictures a goddess moved by Nanda s merits puts life, upon which the sentinels stepping out of the wall immediately put to death the disloyal chiefs.[59] Similarly in the *Kathāsaritsāgara* (130 ff) Vikramāditya with a vetāla enters a temple and beholds there a dance before a *linga* executed by singers and

56 *Mrccha* p 74

Anayā hi sam labdhaṃ na māṃ drakṣyanti rakṣiṇah l

Śastram ca patitaṃ gātre rūjam notpādayiṣyanti ll

57 Cf *Milindapañho* (ed V Trenckner 1880) p 199 Idha pana Mahārāja puriso dibbaṃ antardhānaṃ mūlam hatthe kareyya y va tam mūlam tassa hatthagataṃ tāva na añño koci pakatimanusso tam purisaṃ passati

58 *Pārśvanātha* p 52

59 *Pari*, p 46 Canto VI Sls. 244—52.

players. At the end of the spectacle the dancing nymphs disappear in the figures carved on the pillars of the temple, in the same way the singers and players go into the figures of men, painted on the walls[60].

By means of magic, charm, medicinal (and magic) powders and the art of maddening (lit. making the heart leap), making himself invisible, softening, bringing others under his influence and dependence the eunuch Piyasena enjoyed many pleasures.[61] In *Nāyā* (pp. 186, 187), Poṭṭilā, who has lost the love of her husband is anxious to regain his affection, for which she tried some remedies, viz., *cunnajoe vā mantajoe vā kammanajoge vā hiyauddāvane vā kāyauddāvane vā abhiogie vā vasīkarane vā koukamme vā bhūikamme vā mūle kande challī vallī siliyā vā guliyā vā osahe vā bhesajje vā* .

*Cunna* is a mixture of powders for magically effecting *vaśīkaraṇa* (submission) etc. *Joga* is a powder employed to effect *vaśīkaraṇa* or making one mad[62] When Ṛpudāraṇa is struck with a fist containing magical dust by Yogeśvara, the *tantravādi*, he became infatuated and his nature undwent a change[63] *Kammana* is the act of infatuating a person, overpowering one's senses, making one subject to one's will, distracting one etc, also poisonous charm or drug.[64] *Uddāvana* is attraction (of the mind and the body) *Ābhiyogiya* is *vaśīkaraṇa*[65] *Siliyā* means herbs (*kirātatiktaprabhṛtikā*, *chirela*, commy *Vivāga*, 23) *Guliyā* means pills.

---

60 *Pārśva*, p 194

61. *Vivāgasuyaṃ* (P L Vaidya's ed 1935) para 54. bahūhi ya vijjāpayogehi ya mantacunnehi ya hiyauddāvaṇāhi ya nihnavanehi ya panhavanehi ya vasīkaranehi ya ābhiyogehi ya abhiyogittā. (see notes and glossary)

62 *Surasundarī-cariya*, 8, 201 , *joga maṃmohakarī* sise khitto *imīna sullīna* For a monk to obtain food (*jogapiṇḍa*) from a lay man by performing for him the service of *vaśīkaraṇa* etc, has been forbidden in *Uttarādhyayana* (*see ante*), and in *Paṃcāśakaprakaraṇa*. 13, and *Niśīthacūrṇi*, 13.

63. *Upamiti* p 720 prahato' ham mukhe yoga cūrnamuṣṭyā ... tasminneva kṣane saṃjāto me prakṛtiviparyaya mohitaśca tena yogaśaktyā

64. *Samarā*. p 108. sajjaghāyanam se kammaṇajogam pauañjami, also p 202, *Kupra* p 43

65. *Paṃcāśaprakaraṇa*

Merchant Yaśodāsa husband of Bandhusundari slighted her as she had no children, and fell in love with another woman named Madirāvati When a *joga* (charm) was administered to him his love for Madirāvati ceased and for Bandhusundari returned [66] In the commentary of Silanka to *Sūyagadaṅga* (2 2) a story is told of a Rājagṛha friar who acquired power from magic science, charm and herbs (*vidyāmantrauṣadhilabdhasāmarthya*) With the help of this he used to carry off beautiful women The king at last killed him and restored them to their relations But one of them being still under the influence of the charm loved him and did not want to return to her own husband whereupon she was made to drink with milk the pounded bones of the friar Thus the spell was dissolved and her strange passion for him died away [67] In the *Āvaśyakacūrṇi* (Part I p 279) the following story is related — At Sāvātthi lived a householder named Piudatta, his wife Siribhaddā used to give birth to still born children She was instructed by a soothsayer named Sivadatta to carefully wash her foetus, chop it very finely, and cook it with milk in a room with closed doors so that no one might know, and give the thing to an austere monk in this way she would bear living sons unfailingly [68] Gosāla in his round got this alms

In *Upamiti* King Karmapariṇāma gives some magical pills to Bhavitavayatā (p 185, *sarvārthakāriṇya ekabhavavedyasaṃjñāh pradhānaguḍikāh*) and Vaiśvānara gives some magical pills called cruel thoughts to Nandivardhana (p 204, *Krūracittaguḍikā...ni vaṭakāni kurvanti dīrghataram cāyuṣkam*) Goddess Vairotyā gave Jayadratha two pills (*guṭike*) which gave him the power of flying through the air and assuming any form he liked [69]

66 *Samar* pp 676—78

67 Tatra caika sīmantinī atyantamauṣadhibhirbhāvit necchatyātmīyamapi bhartaram tatastadvidhirabhihita iyatha syah parivrāṭsaakanyasthīni dugdhena saha saṅghṛṣya yadi dīyante tadeyam tad graham muñcati

68 Jo sutavass tassa tam gabbham atīva pakkhaliūṇa sanhakhaṇḍāṇi kāūṇa pāyaseṇa saha paittā deha evam thirāṇi puttabhamdani bhavessati

69 *Kupra* pp 361—62

Herbs had magic virtue. There grows in the Himalayas a wonderful herb which cures all wounds A ring of this herb (*osahivalayakhandam*) was given by a Vidyādhara named Hemakundala to Dharaṇa With this the latter cured a Śabara Chief who had killed a lion, but whose skull had been fractured in the contest On another occasion his caravan having been looted by a gang of Śabaras he escaped with his wife Laksmī and wandered about in the forest She was exhausted with hunger and thirst and could not move. Unable to find water Dharaṇa drew blood from his arm, and cut a piece of flesh from his thigh and sustained his wife in this way. He healed the wounds with this miraculous herb [70] In *Supā* a *cedaya god* is pleased with a prince, cures wounds by *samrohinī mantra* and gives him *gārudamantra* In the *Supriyāvadāna* of *Divyāvadāna* mention is made of various kinds of potent *osadhi*, such as *Śankhanābhi*, *mahāmakarī*, *amogha*, *sammohanī*, *sañjivanī* etc.

The goddess of the wishing tree gave Sena a miraculous stone which cured all diseases With this he cured king Samaraketu when all physicians failed [71] A god gave Asokadatta a miraculous stone which would fulfil only one wish of its possessor. With its help he procured some mangoes out of season and satisfied the craving of Bandhumatī who had a longing (*dohala*) for them [72] Bhadda, the son of a merchant, gets from goddess Aśokā, the *cintāmani* gem, which gives 500 *dinaras* daily.[73] It was the wishing jewel [74] There is a reference to it in *Samarā* (p 781) In *Upamiti* Ratnacuḍā gave Vimala a magic gem which equalled the cintāmani in virtue.[75] In Pāli literature also we read of *maṇika-vijjā* and *cintāmaṇi* gem [76]. The *jalakanta* gem when thrown into the water

70 *Samara.* pp 415—17, 423—27, mahosahim . (acinto himanimantosah'na pabhāvo osahipahāvassa pubbarūvao

71. *Samarī.* pp 564—68 ; Sabbarogavisanigghāyanasamattham āroggomaūirayaṇam

72 *Samarī* p 478 Sī hi ihalokapadivadaham egadivase egappayoyanam .

73 *Kupra*, p. 88

74 *Kummāputta.* *Sls* 72 ff, cintāmaṇī maṇinam siromaṇī cintitatthakaro cintārayaṇam, also *Kupra* p, 419

75. *Upamiti.* p. 749. 76 *Jataka*, IV, 214, III, 504;

made it appear as dry ground [77] In the *Divyāvadāna* (p 119) mention is made of a gem which can disperse fears from a king, thief, fire, water, lion, tiger *yakṣa rakṣasa preta piśāca, kumbhinda pūtanā, kaṭapūtana* want of rain famine etc. The Ekāvali in Bāna s *Harsacarita* (Bk VIII) had the magical power of protecting Harsa against being poisoned and giving him success in undertaking

From the time of the Atharvaveda, serpentlore (*sarpa-vidyā*) demonology (*devajanavidyā*), magic (*māyā, or asuravidyā*) etc seems to have been known, for in the *Śatapatha* (*kānda* 13 *adhyāya* 4, *Brāhmana* 3) we find 'The *devajanavidyā* is the *Veda* this it is magic is the Veda this it is" Disease was regarded as an evil spirit hence a physician seems to have learnt *bhūyavijjā* or the science of warding off evil spirits which is included in the *aṭṭhangauvveda* read by *v jje* Dhannantari in *Vivāgasūyam* (para 134) Of course there were special spirit doctors or medicine-men In *Milinda* p 23), we come across a *bhutavejja* and in *Sumangalavilasini* (p 67) *bhūtavijjā*

The doctor (*v jja vijja*) had to learn *jangola* or *jangoli* (*Thānanga* 8) *i e* the science of cure for poisons (*Vivāga* I—7, Vaidya s ed 134) It was also called *janguli vidya Tirthakalpa*) and the professor of the *vidyā* was called *jangulīya* (*Paumacaria* 105, 57 Skt *janguli jāngulika* a poisoncharmer, a snake-doctor) In Sanskrit literature we find mention of the snake goddess Jāguli devi While inspecting the records preserved in the Record room of the Collector of Cuttack I came across grants of land made to the *mārfatdars* (*Sevaits*) of some *gramadevatis* of Orissa, among whom are mentioned Jāgulāi Thākurāni Budi Jāgulāi (*mārfatdar* Videhi Pānigrāhi Perg Jajpur, vil. Sundarpur etc) She is probably the modern representative of Jānguli mentioned in the *Sādhanamālā* (G O S XLI q v) In *Sumangalavilāsini* (p 67) we get *visavijjā*

A magician (*siddhaputto*) restores life to Sāgaradatta to whom his mother administered strong poison [78] In *Kathākośa* there is a story of poisoning being cured by the drink of a solution of gold [79] and of a charm which destroyed the effects of poison.[80]

77 *Supra.* p 209 *Kummāputtacaria* sl. 70, where other gems such as *sūrakanta mayūragalla* etc. are mentioned

78 *Samar* p 153 79 *Kath* pp 118—19 80 *Ibid* p 162

Maheśvaradatta, a Kāpālika monk, gave a most powerful snakecharm to the shipwrecked merchant Dhana in gratitude for the help rendered to him previous to his conversion. With this Dhana cured the king's son, Sumangala, who had been stung by a snake and could not be cured by any serpent doctors (*gāruḍio*) with their *mantas* or medicine.[81] In *Supā* (pp 136—37) an elephant seeing the water of a lake blue with poison makes it poisonless by throwing in it the branch of a tree. Mention is made of an herb which can bring to life a person even if stung by Death itself (*kāladaṃsiāvi manne jīvaucum samatthoʹtti*) A beggar (*kappaḍiya*) cures a boy who was bitten by a snake (p 138) and was being conducted to the crematorium. Similarly a prince knows by the peculiar sound of a trumpet that a girl who was bitten by snake (and was alive) was going to be burnt He revives her by *gāruḍamantra*.[82] In *Kupra* Prince Dipasikha likewise revives Līlāvatī [83] There are many references to *sarpavidyā*, *gāḍuṇka* and *ahi-tuṇḍika* or *ahiguṇḍika* in Buddhistic literature (Pāli and Sanskrit) [84] An instance of sympathetic magic as a cure for snakebite is given in *Mālavikāgnimitra* (Act IV p. 104, *udakumbhavidhāna*) Bloomfield cites some references to poison being cured by charms, prayers, charmed water—*Kathākośa* p. 102, *Daśa* i p 11, 149 etc. Jewel from serpents' head cures poison in *Campakaśreṣṭhikathānakam* Hertel. *ZDMG*, LXV pp 436, note 1 451. Ralston, *Tibetan Tales*, pp. 58 ff Benfey, *Das Pañca*. vol. , pp. 518, 534, Steel and Temple, *Wide-awake Stories* pp 417 ff [85] The science of poison was well studied; and there was even a treatise called *visakanyā-lakṣana* to find out whether a girl was a *visakanyā*. In Kautilya's *Arthaśāstra* the subject has been well treated.

*Continued.*

---

81. *Samarā*. pp 215—17

82 *Supa.* p 217—19

83 *Kupra* p 140 , for *gāruḍamantra*, see also pp 244, 248, 250. *Upadeśapadaṭīkā*, 986 ; *Thānanga*, 9 Garuḍa was the enemy of snakes

84 *Jātakas* , *Sumangalavilāsinī* p 67, ahivijjāti sappadaṭṭhatikicchanavijjā ceva sappavhāyana vijjā ca , *Divyāvadāna*.

85 *Pārśvanātha* pp 187, 198

# A CONTEMPORARY MANUSCRIPT OF THE HASTASAÑJĪVANA BHĀSYA OF MEGHAVIJAYAGANI, BELONGING TO RAGHUNĀTH \ MAHĀDEVA GHĀTE— BETWEEN A D 1680 AND 1700

By

P K Gode M A

In a recent paper contributed by me to the *Bhāratiya Vidya* [1] Bombay, I tried to establish that Meghavijayagani the author of numerous works in Sanskrit and a few works in Gujarāti composed his commentary on the *Hastasañjīvana* either in A D 1680 81 or between A D 1680 and 1705 I further suggested that this view of mine was in harmony with the known dates of composition of the works of this Jaina author viz A D 1660 1665, 1671, 1691 1701, 1702 and 1704 Since my paper was sent to the above journal for publication I have come across a rare MS of the *Hastasañjīvana*, which appears to be identical with the *Hastasañjīvana* together with *Bhāsya* the authorship of which is ascribed to Meghavijayagani This MS though incomplete is very important as it is a contem porary copy of the *Hastasañjīvana* with *Bhāṣya* composed by Meghavijaya and hence supports my chronology for it viz *A D 1680* 81 or " *between A D 1680 and 1705* "

The MS [2] of the *Hastasañjīvana* referred to above belongs to the Sanskrit Pāṭhashālā, Rajapur (Ratnagiri District of the Bombay Presidency) It was presented to this Pāthshalā in 1931 by the late Narayan Sitaram Ghāte [3] of the village Harḍi near Rajapur along

1 Vide Vol III (1942)

2 This MS was made available to me by my friend Pandit Raghunath Shastri Patankar of Rajapur

3 He was in his 90th year in 1931 and died 5 years later

with many valuable MSS from his family collection The description of the MS is as follows :—

*Size* :—10 inches by 4½ inches

*Material* .—Country paper, very old, though well preserved.

*Extent* .—14 folios ; 14 lines to a page ; about 42 letters to a line

On folio *1a* we find the following endorsement. "श्रीहस्तसंजीवनप्रारंभ

अथ हस्तसंजीवनपुस्तकं घांटोपनामक-कौशिकगोत्रोद्भव-यशस्करभट्टस्य श्रीरस्तु शिवमस्तु etc."

A similar endorsement [1] is found at the close of the MS on folio 14*a*

The MS begins as follows :—

"श्रीगणपतये नम ॥ श्रीभद्रकाल्यै नम ॥

श्रीशंखेश्वरपार्श्वं प्रणम्य ध्यायंन्नमेव जिनवृषभं ।
हस्तप्रशस्तलक्षणपरीक्षणे दक्षतां वक्ष्ये ॥१॥
श्रीनाभेय प्रभुर्जीयात् सर्वज्ञो जगदीश्वर ।
येन लाक्षणिकी विद्या निर्दिष्टा भुवनश्रियै ॥२॥
श्रीवर्द्धमानो जयतु सर्वज्ञानशिरोमणि ।
पंचहस्तोत्तरो वीर. सिद्धार्थनृपनंदन ॥३॥
अंगविद्या निमित्तानामष्टानामपि गीयते ।
मुख्या शुभाशुभज्ञाने नारदादिनिवेदिता ॥४॥

यदुक्तं etc."

*Folio 2a*—"इतिश्रीहस्तसंजीवने शास्त्रपीठिका

—verses 1 to 19

*Folio 3a*—"इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने पुण्यसाधने ध्यानविधानं"

—verses 1 to 21

*Folio 3b*—"इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने नामानि"

—verses 1 to 15

*Folio 4a*—" इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने हस्तविलोकनविधिः"

—verses 1 to 17

---

1 This endorsement reads as follows —
" श्रीमत्कौशिकमहर्षे· वंशकुलपरंपरागत र (?) घंटाभिधान-यशस्करभट्ट-सर्वज्ञसंपन्नसर्वंकुसु (?) सुखंघश्रीमद्यशस्करभट्टस्येदं पुस्तकं हस्तसंजीवनाख्यमित्यास्तां विस्तरः प्रकृतमनुसरामः ।"

*Folio 4b*—" इति हस्तसंजीवन तिथिदर्शन " —verses 1 to 18

*Folio 8b*—" इति ह० अंगुलीस्वरूपचन " —verses 1 to 83

*Folio 13*—ends—

' रनुरत्नांगुष्टरेखा ... येशे तद्भव ॥८७॥

The MS breaks off here and is followed by the endorsement regarding its ownership which we have quoted already in this paper *Verse* 87 ' पितृरेखांगुष्टरम्, etc. ) quoted above corresponds to verse 87 of the 3rd *adhyāya* (रेखाविमर्शन) of the हस्तसंजीवन of the B O R Institute MS of the work acquired in 1942 The rest of the work as represented by folios 14 to 20 of the B O R I MS is wanting in the Rajapur MS before me and hence it is incomplete as the work consists of 4 *adhyāyas* Perhaps the original from which the Rajapur copy was prepared was incomplete The B O R I copy which is complete and which gives us some verses at the close about Meghavijaya Vijayaprabha and Kṛpāvijaya has the same text (verses and prose भाष्य) as is found in the incomplete Rajapur MS

The *Bhāṣya* on folio 3 of the B O R I MS mentions as an example *Samvat 1737 Saka 1602 Pramoda Samvatsara* with other chronological details which give us the date *Friday 18th June 1680* [1] *Samvat 1737* is again mentioned on folios 8 [2] and 10 of the B O R I MS This mention of the year A D 1680 warrants an inference that the work *Hastasañjīvana—bhāṣya* of Meghavijaya was composed either in A D 1680 or between A D 1680 and 1705 which is the last recorded date of one of Meghavijaya's works

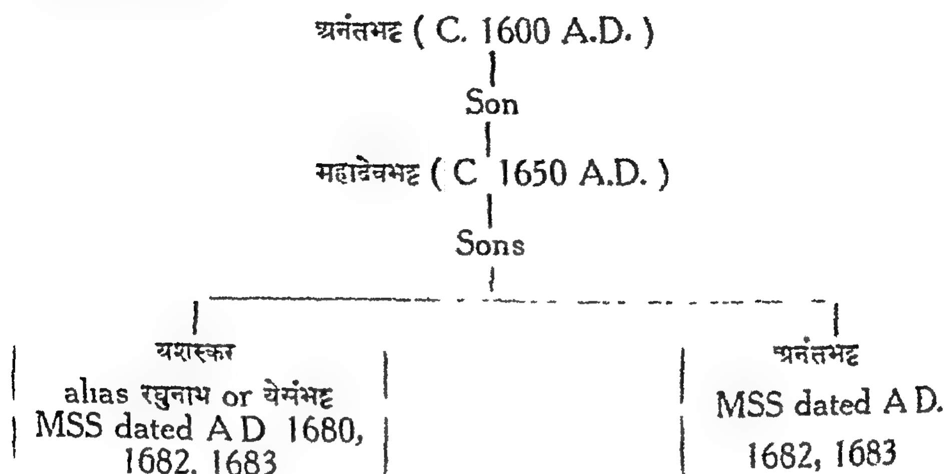
I shall now state my evidence for regarding the Rajapur MS of the *Hastasañjīvana* as a contemporary copy This evidence is as follows —

(1) यशस्कर भट of कौशिक गोत्र the owner of the हस्तसंजीवन MS flourished between A D 1650 and 1700 and was a contemporary of मेघविजयगणि whose dates range between A D 1660 and 1704

1 Folio 4a of Rajapur MS Contains the extract giving these Chronological details

2 Vide folio 9a of the Rajapur MS

(2) यशस्कर was also called येमंभट्ट or रघुनाथभट्ट. His genealogy as reconstructed by me is as follows :—




(3) यशस्कर भाट or घाटे composed some works on *dharmaśāstra* viz , श्राद्धनिर्णयदीपिका निर्णयरत्नावलि, सोमेश्वरदशक etc In these works he mentions निर्णयसिंधुकार *i.e.*, the author of the निर्णयसिंधु of Kamalākara which was composed in A D 1612.

(4) यशस्कर performed a जप in A.D 1680 and kept a record of it in his own handwriting This document records his name and the year A D 1680 when the जप was performed

(5) The Rajapur MS of the हस्तसंजीवन must have been copied presumably between A D. 1680 and say 1700 *i.e.*, during the life-time of यशस्करभट्ट or रघुनाथ महादेव घांटे of the village Hardi near Rajapur, where his descendants are still living. The fact that this MS belonged to यशस्कर (*alias* रघुनाथ) महादेव घांटे is clear from the endorsements at the beginning and end of the Rajapur MS of the हस्तसंजीवन Similar endorsements are found on other MSS belonging to यशस्कर भट्ट and his brother अनंतभट्ट both of whom flourished between A D. 1650 and 1700. These brothers were definitely living between A.D. 1680 and 1683 as proved by the record of these dates on their MSS. In my paper[1] on रघुनाथ महादेव घांटे (between A.D. 1650 and 1700) I have recorded

1 This paper has been sent for publication to the Editor of the *Journal of the Sarasvati Mahal Library Tanjore*

sufficient contemporary documentary evidence regarding the chronology of the works of this author and hence it need not be repeated here.

That an author who flourished between A D 1650 and 1700 should own a copy of the हस्तसंजीवनभाष्य of मेघविजय proves beyond challenge the contemporary character of the copy and hence supports my limits for the date of composition of this work *viz* between A D 1680 and 1700 *Most probably the work was composed in the* year A D 1680 which is mentioned twice or thrice in the body of the work

---

# The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, LL. D., M R. A. S.

(*Continued from Vol. VII, No. II, page 80.*)

## EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

| No | Period & Date. | Events. |
|---|---|---|
| 63 | 573 or 522 B C | Mankhali Gośāla, who formerly belonged to the lineage of Nirgrantha disciples of Tirthankara Pārśva, sets up as a teacher of the Ajivikas His doctrines although differing on main points, were taken from the Jaina *Pūrvas*. [Ref. K. P. Jain, *Sam-Jain Itihāsa*, vol II, pt I, pp. 62—73 ] |
| 64 | 561, 543 or 506 B. C. | Mañkhali Gośāla dies at Srāvastī. [*Ibid*] |
| 65 | 554 B C. | Konika Ajātaśatru having interned his father Śrenika Bimbisāra, ascends to the throne of Magadha |
| 66 | 545, 527, 590, 580, 467 B C. | Tîrthankara Mahāvira Vardhamāna reaches *P*āvā, after preaching in the whole of India and its border countries and attains Nirvāna from that place on Kārtika Krsanā Amāvasyā at the age of about 73 Three years and eight and half months after this great event *Panchama Kāla* commenced [Ref. SJI, II, i, 116] |

| No | Period & Date | Events |
|---|---|---|
| 67 | Ditto | Indrabhūti Gautama attains Kevalajñāna and becomes the leader of the Jaina Samgha |
| 68 | Ditto | Pālaka succeeds to the throne of Ujjain and reigns for 60 years |
| 69 | 543 B C | Konika Ajātsatru having killed his father and usurping the throne of Magadha, wages war against Vajjian republic and becomes a *Jain* |
| 70 | 543 or 506 B C | Jambu Kumāra son of Srestin Arhadāsa or Ṛṣabhadatta and Jinamati Dhārini of Kāsyapagotra born at Rājagraha |
| 71 | Ditto & 480 B C | Śākya Muni Gautama Buddha dies at *Kusinarā* |
| 72 | 533 B C *533, 515 or 450 B.C* | Indrabhūti Gautama attains Nirvāna at *Rājagraha at the age of 92*, twelve years after the Nirvāna of Mahāvira Sudharmana Svāmī attains Kevalajñāna and leadership of the Jain Order [SJI II, i, 126—127] |
| 73 | Ditto | Sudharmanaswāmi preached and toured in the countries of Pundravardhana and Udradeśa Yama was the king of Udras, who became an ascetic with his five hundred sons *at the feet of Sudharman* His son Gardabha succeeded him and adopted the vows of a Jain layman [*Ibid.*] |

| No. | Period & Date | Events. |
|---|---|---|
| 74 | 521 or 503 B. C. | Sudharman gains Nirvāna at the age of 100 and Jambū attaining Kavalajñāna, succeeds him as the head of the Order. [*Ibid*] |
| 75 | 483 B. C | Jambū, the last Kevalin attains Nirvāna at Rājagraha He with his Vidyuta and other five hundred disciples performed austerities ere this at Mathura and attained *Samādhi* having been attacked by some alien figure. In their sacred memory 500 stupas were erected at that place. [*Ibid*. 178] |
| 76 | Ditto. | Nandi or Visnu, the first Śrutakevalin succeeds Jambû as head of the Sangha. [Ref Dhavalā, INTRO. p 23.] |
| 77 | 463 B C. | Nandimitra, second of the Śrutakevalins becomes the leader of the Samgha [*Ibid*] |
| 78 | 443 B. C. | Śrutakevalin Aparājita succeeds Nandimitra as head of the Samgha. |
| 79 | 433 or 396 B. C. | Bhadrabāhu, the last Śrutakevalin born at Kotipura in Pundravardhana, his parents being Somaśarma and Somaśrî [SJI, II, i, 205] |
| 80 | 423 B. C | Śrutakevalin Govardhana succeeds Aparājit most probably at this time. |
| 81 | 411 B. C. | Sthûlabhadra born at Pātaliputra of Sakatala, the *mantrin* of the 9th Nanda King |

| No | Period & Date | Events |
|---|---|---|
| 82 | 400 B C or later | Tirumalai caves (district Arcot) South India sacred to Jainas, contain foot prints (1½ feet in length) said to have been built to commemorate the presence of those Jaina munis who came to this place and remained there for a time during the 4th century B C when Bhadrabāhu led a great Jaina migration to South India [Ref Sitalprasad MJS, p 74] |
| 83 | 403 B C | Bhadrabāhu succeeds Govardhana as last Śrutakevalin and head of the Samgha |
| 84 | 383 or 365 B C | Bhadrabahu abdicates his Āchāryaship and Viśākhāchārya succeeds him |
| 85 | 374 B C | The pre Asokan Brahmi Inscription of Barli records a dedication of a certain item to Lord Mahāvira by lady Sāli Mālini at Madhyamikā Ref JBORS Vol XVI pp 67–68 |
| 86 | 327 B C | Alexander, the Great, attacks India and he is joined by Omphis, King of Taxilla and other chiefs who had tendered their submission At Taxilla A sees the Digambara Munis called the Gymnosophists and gets impressed by their wisdom and learning From Taxilla A despatches one part of his army to the river Indus by way of the Khaibar Pass while with the other, he himself pursues a more northerly and circuitous route subduing on his way the |

| No. | Period & Date | Events. |
|---|---|---|
| | | Nysains, Aspasians, Assakerians and Goraxaus and capturing the strong cities of Massaga and Penkelastis and the celebrated Rock Aornos [SJI., II, i, 183—5] |
| 87 | 326—322 B. C. | Bhadrabāhu becomes instructor of the Mauryan emperor Chandragupta and leads a Jain migration to South India. The Mauryan Emperor adopts vows of a Jain Śramana and accompanies the Jain monk The Samgha of Bhadrabāhu visits Girnāra and other sacred places of west and south India and reaches on Katvapra hillock near Śravanabelagola in Mysore State, where Bhadrabāhu observes *Sallekhana* and passes to celestial world. Chandragupta also follows his preceptor. [SJI., II, i, 203—243] |
| 88 | 321 B. C (371 –321 B. C. | After the Nirvāṇa of Mahāvira, the Jaina Samgha is said to have numbered over five hundred thousand members and subsequently the nine kings of the Nanda dynasty of Magadha, (with their ministers), were patrons of the Jaina Order. The founder of the Mauryan dynasty Chandragupta, as well as his Brahmin minister Chānakya, were also enclined towards Mahāvira's doctrines and even Aśoka is said to have been led towards Buddhism by a previous study of Jain teaching." [Refs. HARI. p. 59 ; EHI. p. 33.] |

| No | Period & Date | Events |
|---|---|---|
| 89 | 324—21 B C | Alexander on his way stops at Susa (Persia), where Kalanus, the gymnosophist (Kalyāna Digamber Muni) who had accompanied him from Taxilla, burns himself after breathing his last and performing *Sallekhana* on a funeral pile [SJI II, i, 183—85] |
| 90 | " | The ancient Nirgrantha ( Jaina ) Samgha suffered at the hands of its ascetic members—some of them put on a cloth to hide their shame and came to be known as 'the *Ardhaphālakas* who are proved to be the forerunners of the latter Śvetāmbaras [ Ref 'A Volume of studies in Indology, (Poona) pp 228—237 ] |

*To be contd*

# NĀRĀYANAS, PRATINĀRĀYANAS AND BALABHADRAS.

BY

(Dr Harisatya Bhattacharya M A., B L., LL D)

---

The same supreme veneration for a perfect human being which characterises the Jaina religion, is also manifest in its account of the *Narāyaña* and the *Pratinarāyaña* The orthodox literature of the Brāhmanic school describe Nārāyaña as the supreme Being. The Brahma-vaivarta Purāña says.—" The wise know that by the term, Nāra is understood salvation, in which the emancipated Being becomes of the similar form with the Supreme Lord That God is Nārāyaña who is the way to it Again, *Nāra* may mean a sinner and *Ayana*, his way. The god Nārāyaña is so called because he is the way (to salvation for the sinner). *Nāra* may also mean the blessed deliverance and *Ayaña* knowledge He is the Nārāyaña, from whom come the two" The Vishñu-Purāña, again holds: " By *Nāra* is meant *Ap* (water), it may also mean Sons of Man. Nārāyaña is so called because he dwelt in them" It is urged that " Nara is the 25th principle over and above the Prakriti. *Nāra* are the objects which belong to Nara. Narāyaña is so called because He is the abode of all these" It is thus abundantly clear that Nārāyaña, according tō the Vēdic literature is the super-sensuous Supreme God or Principle, governing the Phenomēna of the world

According to the Jainas, however, Nārāyaña is a mighty human king who rules over three parts of the earth. He dies while ruling over his kingdom *i e*, without getting himself initiated into the order of the monks Upon his death, he goes to hell and on the termination of his infernal life, he is reborn into this world and attains salvation Nine such Nārāyañas are mentioned in the Jaina Purāñas, af whom, the account of Lakshmaña and Krishña will be of interest to students of comparative religion, as they are glorified in the Vēdic Purañas also,

Nārāyaṅa, according to Jainism is thus a human being and according to the Brāhminic school, the supreme divine principle He is again the deliverer of the sinning mankind, according to the Vēdic School The words, *Nāra* and *Nārayaṅa* may both derivatively mean Son of Man If we combine the views of the Jaina and the Brāhminic schools we may arrive at a curious idea of the Nārāyaṅa being identified with the Jesus of the Christians 1 The sacred scripture of the Christians call Jesus Son of Man According to the Jainas, Nārāyana is a man The word Nārāyaṅa may also derivatively have the exact significance Son of Man Indeed the Brāhminic Purāṅas say that " in some Manvantara, Nārāyaṅa became the son of *Nara* a human sage 2 According to the Christians Jesus is nevertheless divine this is also the Brāhminic conception of the Nārāyana 3 Lastly Jesus the divine, the Son of Man is the deliverer of the sinners What we have quoted from the Brahma vaivarta Purāṅa goes also to show that derivatively the word, Narāyana means exactly the same thing He the Supreme Beings according to the Vēdic School becomes "flesh and blood lives among men and shows the way to or effect their liberation The fundamental theory of the Christian religion, its Son of Man dogma i e its doctrine of God appearing as Man and working for the deliverance of sinners and sufferers, may thus be said to have been implied in the Nārāyaṅa doctrine in ancient India

Prati Nārāyaṅas, again are persons who are antogonists of Nārāyaṅas The Prati Nārāyaṅas are pre-destined to be killed by the Chakra of the Nārāyaṅas, who, on their death rule over the three parts of the earth owned by the Prati Narāyanas Prati Nārāyaṅas,on their death go to hells and on the termination of their lives there, are born and re born in this world, till at last they attain salvation Nine Prati Narāyāṅas are described in the Jaina Purāṅas In the list of the Jaina Prati Narāyaṅas, we find the names of some familiar demons the account of whose deeds or misdeeds fill the pages of the sacred books of the Brahmaṅas We come across for instance, the names of Aswa griva and Madhu Kaitabha, who were killed by Vishṅu nārāyaṅa according to the Vēdic

Purāñas, of Tāraka who was killed by the mighty Kartikēya, the general of the gods and of Nisumbha who was killed by the goddess Chandikā. We find also the mention of Bali who is said to have been humbled by Vishñu in his incarnation as the Vāmana or the man of short stature But although it is remarkable that both the Vēdic and the Jaina sacred literature agree in describing the above mentioned mythic heroes as evildoers, we are surprised to find the name of Prahlada mentioned in the list of the Jaina Prati-Nārayañas. Here the Vēdic and the Jaina legends seem definitely and openly to be at the parting of ways. For, Prahlāda of Vēdic Purāñas is the ideal servant of Nārāyaña,—all-submissive and prayerful—whereas in the Jaina Purāñās, he is a Prati-Nārāyaña or the enemy of the Nārāyaña More important, however, of the Jaina Prati-Nārāyañas are Rāvaña and Jarāsandha,—the accounts of whose misdeeds and consequent annihilations form so great a part of the Vēdic epics the Rāmāyaña and the Mahābhārata

Balabhadras in the Jaina Purāñas are the elder step-brothers of the Nārāyañas and are said to be attached fast to them Unlike the Nārāyañas, they enter the order of the Jaina monks, which they do on the death of the Nārāyñas and upon their deaths they either attain salvation or at least go to the high heavens. Of the nine Balabhadras, glorified in the Jaina literature, Padma, otherwise known as Rāma-chandra and Bala-deva are the most important as they are notable persons in the Vēdic Epics also.

From the short account of the Nārāyañas, the Prati-Nārâyañas and the Bala-bhadras which we have given above, one may guess that there are Jaina versions of the stories of the Rāmāyaña and the Mahābhārata. We shall presently give the barest outline of the Jaina accounts of Rāma or Rāvaña and Krishña or Jarāsandha We may however, just make a passing reference to a point which is of some importance to a student of comparative mythology. The sacred books of the Vēdic school regard Rām-chandra as the Nārāyaña and Lakshamaña, as the incarnation of Ananta, whereas according to the Jainas, Lakshmaña is the Nārāyaña The Vēdic

Purāṇas describe Krishṇa as the Nārāyaṇa and his older brother Bala-dēva or Bala bhadra as the incarnation of Ananta Thus, so far as the natures of Krishṇa and his brother are concerned the two religious may be said to agree——although stray passages may be met with in some of the Vēdic Purāṇas, stating that Bala bhadra the step brother of Krisna is the incarnation of Nārāyaṇa Jaya dēva, for instance, in his celebrated Hymn to the ten Incarnations invokes Bala-deva as the Kēśava (Nārāyaṇa) It would thus appear that the Jaina inversion of the order of the Nārāyaṇa and his brother in the case of Rāma and Lakshmaṇa is parallel to the similar inversion of the same order in the case of Krishṇa and Bala-deva, made by the some of the devotees of the orthodox Vēdic school

I

The story of the Rāmāyaṇa as stated in the Jaina Purāṇas is substantially similar to the account of Vālmiki We are told that king Daśaratha had four sons Rama, Lakshmaṇa, Bharata and Satrughna who were the most accomplished of the princes of the day Rāma broke the mighty bow of Janaka and was given Sitā in marriage to him Daśaratha wanted to make Rāma the king but was compelled by his promise previously made to Kēkayi, to banish him and make Bharata king in his stead Rāma went to the forest with Sitā and Lakshmaṇa Sūrpanakhā (called Chundra nakhā in the Jaina Purāṇas) became enamoured of the brothers but on her advances being slighted, there was the fight with Kharu Dūshaṇa King Rāvaṇa of Lankā who was the brother of Chandranakha came to the forest The brother who was protecting Sitā was deceived and made to believe that his brother was in trouble He run to his rescue leaving Śita alone and Rāvana stole her away in his air-chariot, called the Pushpaka Rāvaṇa look Śita to Lanka and put her under the Aśoka tree He tried his best to induce Sitā to surrender her fair body to his lust but Śita sternly refused Rāvaṇa was angry but was prevented from forcibly violating her by a previous imprecation of a saint Sugriva the king of Kishkindhā, was restored to his kingdom and to his wife by the brothers For a time, Sugriva was too much engrossed in his enjoyments to think of any duty to the brothers He was, however brought to his

senses by the firy Lakshmaña and then, according to his direction Hanumān went to Lanka. He met Sītā who gave him her head-jewel to be delivered to Rāma. Rāvaña ordered Hanumān to be captured. Rāvaña's men were defeated but at last Indrajit took him to Rāvaña, bound in Nāga-pāśa or Serpent-noose. He destroyed many fine buildings in Lanka and went back to Rāma to whom he delivered the pleasant news about Sītā. Bibhishaña, the brother of Rāvaña tried to dissuade him from his evil part whereupon Rāvaña was about to kill him. Bibhishaña joined Rāma with his army. In the terrible fight that ensued between Rāma and Rāvaña, the latter hurled Śakti upon Lakshmaña which made him unconscious. At last, Rāvaña was killed and Rāma made Bibhishaña king of Lanka. The brothers with Sītā came back to Ajudhya. Rāma became the king and ruled his kingdom well and peacefully for many years. There was, however, the ugly rumour about Sītā in the kingdom on account of her stay in Rāvaña's city, whereupon Rāma thought it fit to banish Sītā to please his subjects. Sītā gave birth to two boys. The two princes were very powerful and defeated Rāma and Lakshmaña in a battle. It was represented to Rāma that Sītā was a chaste lady and should be taken back. But as fate would have it, Sītā could not be joined with Rāma. Lastly in both the versions, we find that Rāma routed Sītā to face the ordeal of fire. Sītā came out unscathed, her purity vindicated.

It is impossible to note here, all the points in which the Jaina version of the story of the Rāmāyaña differs from Valmiki's. Some of them only may be noticed here. First of all, the episode about Daśaratha and Janaka wandering from countries to countries *in cognile* may be referred to. It is said that king Rāvaña of Lankā was told by a wise astrologer that his downfall would be brought about by the son of Daśarātha and the daughter of Janaka. Rāvaña was naturally frightened whereupon his brother Bibhishana cheered him up by promising that he would kill the two kings before they would beget any children. The sage, Nārada, came to learn this and he gave timely warnings to Dasaratha and Janaka.

*To be continued.*

# Reviews

*Studies in Dravidian Philology No I—A Grammar of the Oldest Kanarese Inscriptions*—by Dr A. N Narsimhia, M A, L T Ph D
Published by the University of Mysore
Price Rs 2/12/

To quote the words of the learned author 'the thesis is an attempt to give a descriptive account of the grammar of the oldest Kanarese inscriptions from the linguistic material available in the inscriptions of the sixth and seventh centuries A D

'It consists of three parts The Grammar consists of short chapters on the history of certain consonants and consonant groups, substantives, adjectives pronouns numerals verbs, adverbs and conjunctions An attempt is made to explain the forms wherever possible, in the light of those of Tamil Malayalam Telugu and Tulu and developments of some of the old Kanarese forms into the modern Kanarese are noted The last chapter is devoted to remarks on the word order"

Part II consists of the text of the inscriptions studied

Part III gives an alphabetical index of all the words in the inscriptions studied, with etymological notes

The learned author has brought his deep erudition to bear upon the difficult subject to the great advantage of those who might feel interested in it. The great value of this book not only in throwing a flood of light on the precious Old Kanarese inscriptions but also dealing with them threadbare philologically cannot be over-estimated As already observed all the words have been grammatically discussed, their origin has been traced and the parallel words elsewhere have been indicated How elaborately the vast subject the great author has dwelt upon may be gauged from the history of one single letter *L* from the 6th century to the 16th century The words borrowed from Sanskrit and Prakrit have been shown

In the second part of the book all the Inscriptions dealt with have been given in Roman in the alphabetical order These are 66 in number

The last part not only gives an alphabetical list of all the words occurring in the aforesaid inscriptions but also gives grammatical and other references alongside In short, the very learned author has spared no pains in making the book exhaustive, useful and fully illustrative of the topic in hand.

---

*A Report on* the Working of the *State Museum, Padukkottai* for Fasli 1350, (1940-41.)

The report shows that the Museum, flourishing under the patronage of a great state, is a very useful institution and has to its credit manifold activities worthy of such a body The facts and figures presented by the Cuator for the year under review make a delightful and inspiring reading. The museum could boast of visitors considerably over a lac and a quarter with an increase of nearly three hundred over the figure of the previous year.

A number of prehistoric exhibits, viz. a set of seventeen palaeoliths from the Kortalitor basin in the Chingleput district and five neoliths from the Bellary district were presented by the Superintendent Madras Museum in exchange for an assorted collection of this museum Eleven small bronze idols, the most interesting being those of Naṭarāja, Śivakāmi a seated Devi and a dancing Ganeśa were discovered in a breach of a certain tank and were acquired. The most important and interesting addition to the bronze gallery is a copper idol of Nrsimha of a very artistic workmanship

The collections of South Indian Musical instruments were rearranged and many of them were cleaned and repaired. A few additions were also made to these collections

Four gold and six silver coins were added to the collection. These were presented by the Superintendent, Madras Museum.

Besides, two inscribed stone slabs were added to the Epigraphy section during the year under report.

Many of the exhibits in the mineral cabinet were identified and some more were added

The botanical and the Zoological section have their own exhibits.

A number of books were added to the museum library in the year under report

The Museum authorities have to their credit some useful excavations that have brought to light a number of valuable finds of great importance and the conservation of others The following are chief of them —

1 Excavation of the Aivarkovil at Kedambular
2. Excavation of the Jain temple mound in Sambattur
3 Repairs to the Śiva temple at Viralur
4 Protection of the Paintings in Sittannavasal
5 A prehistoric burial site near the Veller Ry bridge
6 Conservation of monuments and buildings

In short, the report presents an interesting and inspiring reading and gives a lively and lucid account of achievements that may do credit to any institution of the kind The manifold activities of the museum are not only conducive to its own greatness and utility but also inspiring and exemplary for other such institutions

---

*For the year 1940 Published by the University Mysore*

## ANNUAL REPORT OF THE MYSORE ARCHAEOLOGICAL DEPARTMENT

The report under review is an exhaustive, clear and beautiful record of the activities and achievemens of the Archaeological Department of the great and ancient Hindu State of Mysore The report is divided into seven parts that separately deal with Administration, Conservation Study of ancient monuments and cites Excavation Numistics, Manuscripts, Inscriptions respectively

Part I—Dr M H Krishna, M A, D Lit (Lond), Professor Mysore University continued to be the Director of Archaeology in addition to his own duties says the report. The Director General of Archaeology in India paid a visit to the State and inspected several monuments and with his suggestion some spots were marked for trial exavations Some excavations were accordingly made and a brief account of the same is given in Part IV of this report The

activities of this department of the State in all the directions is very laudable indeed.

Part II—The report gives, district by district, the list of the important monuments and buildings that have received the earnest care of the State towards their conservation

Part III—Here too, as above, has been given, district by district the list of monuments, temples etc. that have received special attention during the year under report for the study of ancient monuments and sites

Part IV—Deals with important excavation e.g. of the Brahmagiri site in Chitaldrug District and the important finds are enumerated.

Part V—Dealing with numismatics, makes a mention of many sorts of valuable ancient coins, among them the Pallava and Chera coins, all details whereof are given and illustrations on art paper are attached.

Part VI—Speaks of the 22 valuable manuscripts that have been examined

Part VII—Here are given a number of valuable ancient inscriptions in temples and elsewhere in original as well Roman transliteration. A plate on art paper is attached to show the original inscriptions. These are 75 in number A translation of these into English makes them intelligible to those who cannot understand the original

So goes the report of the Archaeological department of the State of Mysore which great in all other respects has to its credit activities in this direction that add one more plume to its gorgeous crown of glory. The get up of the Report with its beautiful print, superfine paper, splendid and attractive binding, coupled with quite a large number of plates and illustrations, has an appeal of its own and is indeed a fitting and beautiful embodiment for the very precious contents.

RAJENDRA PRASAD,
Arrah,

# RULES

1 The 'Jaina Antiquary is an Anglo half yearly Journal which issued in two parts i.e, in June and December

2 The inland subscription is Rs 3 (including Jain Sidhanta Bhaskara ) and foreign subscription is 4s 8d per annum payable advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1 8 0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained application to the Manager Jaina Antiquary The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should made.

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receip of the journal within a fortnight from the approximate date of publication the office at Arrah should be informed at once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography art, archaeology iconography epigraphy, numismatics religion literature philosophy ethnology folklore etc., from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles notes, etc, typewritten and addressed to K P Jain Esq M R A S Editor Jaina Antiquary Aliganj Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

Prof HIRALAL JAIN M A LL.B
Prof A N UPADHYE, M A D Litt
B KAMATA PRASAD JAIN M R A S
Pt K BHUJABALI SHASTRI VIDYABHUSANA